गीता-दर्शन

[६]

प्रवचनकार

अनन्तश्री स्वामी

अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

संकलनकर्त्री

श्रीमती सरला वसन्तकुमार बिरला

4528
18 गी

श्री प्रकाश संन्यास आश्रम

प्रमोद गिरि

258528
अ 98 अ

गीता-दर्शन

[६]

प्रवचनकार

अनन्तश्री स्वामी

अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

संकलनकर्त्री

श्रीमती सरला वसन्तकुमार बिरला

गीता-दर्शन

[६]

नवम्बर, ८०
दीपावली
सं. २०३७ वि.

प्रथम सस्करक–३५००

मूल्य–६.००

प्रकाशक :

सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्ट

'विपुल' २८/१६
वी. जी. खेर मार्ग
वम्बई–४००००६
फोन : ८१७९७६

692

मुद्रक :
विश्वम्भरनाथ द्विवेदी
आनन्दकानन प्रेस
सी-के० ३६/२०, ढुण्ढिराज
वाराणसी–२२१००१
फोन : ६२६८३

॥ श्री हरिः ॥

धर्मे मतिरस्तु

धर्ममें आस्था, भगवान्‌के प्रति रति, अपने हृदयकी पवित्रता, यथाशक्ति प्राणियोंकी सेवा, मानव जीवनका सर्वस्व है। हमारी शुभकामना है कि गीता-प्रवचनके आयोजक तथा इस 'गीता-दर्शन'की परिश्रमपूर्वक लेखनकर्त्री श्रीमती सरला बिरला एवं श्रीबसन्तकुमार बिरलाके जीवन एवं परिवारमें इन सब सद्‌गुणोंका अधिकाधिक विकास एवं प्रकाश हो और इनके द्वारा विश्व-मानवताकी अधिकाधिक हित-साधना सम्पन्न हो।

दीपावली
सं० २०३७
७-११-८०

—स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती

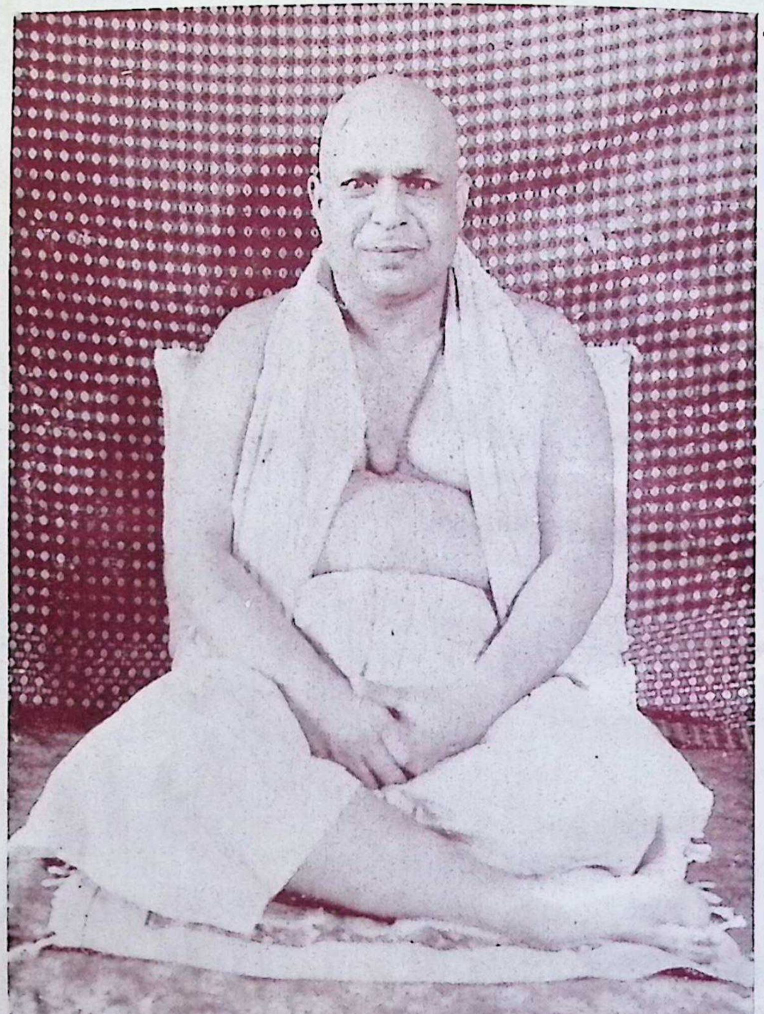

अनन्तश्री
स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती जी महाराज

गीता-दर्शन

[६]

प्रवचन : १

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥

अब पहले एक बात देखें। यह जो तत्त्वज्ञानकी—ज्ञानकी, विज्ञानकी चर्चा की जाती है—श्रवण-उपदेश होता है वह अरण्य-भूमिमें होता है। अरण्यभूमि अर्थात् पर्वतोंकी तलहटी, गंगातट। यह गीताका उपदेश रणभूमिमें हो रहा है। यह तत्त्वज्ञान अरण्य-भूमिमें-से उठाकार रणभूमिमें लाया गया है। अर्थात् जीवन-संघर्षमें जो काम आये वही उत्तम ज्ञान। 'प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते'—नगाड़े बज रहे हैं। घोड़े हिनहिना रहे हैं। हाथी चिग्घाड़ रहे हैं। वहाँ यह ज्ञान प्रकट हो रहा है। आपके जीवनमें कितना भी कोलाहल हो और कितना भी संघर्ष हो, यह ज्ञान वहाँ काममें आनेके लिए है। न गंगातट है, न हिमालय है और न कोई नैमिषारण्य है।

दूसरी बातपर ध्यान दें। यह कि हमेशा वक्ता श्रेष्ठ होता है और श्रोताको नीचे बैठना पड़ता है। परन्तु गीताका श्रोता रथी है और वक्ता सारथि है। सारथि तो ड्राइवरकी तरह है और रथी मालिककी तरह। जीवात्मा यदि रथी है तो बुद्धि सारथि है। 'बुद्धि तु सारथिं विद्धि।' यहाँ तो जो शिष्य है वह बड़ा है और जो गुरु है वह छोटा है। बुद्धि जीवात्माके अधीन होती है। श्रीकृष्ण अर्जुनके अधीन सारथि हैं—सारथि माने सहायक। 'अग्नेर्वायुः सारथिः।' अग्निका सारथि वायु है। यहाँ छोटा बड़ेको उपदेश कर रहा है। इसका अर्थ है—'बालादपि सुभाषितम्।' यदि बच्चा भी कोई अच्छी बात कहे—नौकर भी अच्छा उपदेश करे तो उसे श्रवण करना चाहिए।

तीसरी बातपर आप ध्यान दें कि हमारे पूर्वमीमांसकोंने यज्ञशालामें धर्मकी प्रतिष्ठा कर दी। वेदके, शास्त्रके आदेशसे प्राप्त जो कर्मकाण्ड है, जिससे स्वर्ग-मोक्षरूप फलकी प्राप्ति होती है, वह था धर्म। गीता हमारे जीवनके प्रत्येक कार्यमें धर्मकी प्राण-प्रतिष्ठा करती है। व्यापारमें गीताको लीजिये। अपने सेवाकार्यमें गीताको लीजिये। व्यवहारमें गीताको लीजिये। यह धर्मको जन-जनमें, मन-मनमें, घर-घरमें प्रतिष्ठित करनेके लिए है। पूर्व-मीमांसाके आधारपर विद्वज्जन धर्मका निरूपण करते हैं। पूर्व-मीमांसामें सत्त्व-रज-तमके आधारपर धर्मका निरूपण नहीं है। वहाँ अधिकारी-भेदसे धर्म निरूपित है। यहाँ सत्त्व, रज और तमके विभागसे धर्मका निरूपण होता है। यहाँ कोई संन्यासी ज्ञानका वक्ता नहीं है और न कोई संन्यासी, ब्रह्मचारी श्रोता है—दोनों ही गृहस्थ हैं। श्रीकृष्ण भी गृहस्थ हैं, अर्जुन भी गृहस्थ है और यज्ञ-शालाके धर्मका जो फल है वह स्वर्गमें जानेपर मिलता है तथा जो विधिपूर्वक लौकिक दृष्टिसे किया जाता है जैसे पुत्रेष्टि, उसका

फल इस लोकमें भी मिलता है। परन्तु गीताका जो फल है वह दृश्य फल ही है। माने इसी समय अन्तःकरण शुद्ध होता है। अन्तःकरणकी शुद्धि है दृश्य फल। हमारा वेदान्त मरनेके वाद स्वर्ग पानेके लिए नहीं है। वह तो इसी जीवनमें हमको राग-द्वेपसे जीवन्मुक्त करनेके लिए है। अब इस परिप्रेक्ष्यमें आप नवें अध्याय-पर विचार करें।

नवें अध्यायका प्रारम्भ ही यह कहता है कि आठवें अध्यायमें जो बात कही गयी है उससे यह विलक्षण है। 'इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे'—'तु'का प्रयोग अर्थात् अवतक जो बात कही सो कही—पर यह तो मैं तुम्हें गुह्यतम बात कह रहा हूँ। कोई धर्मका रहस्य बताना हो तो उसे गुह्य कहते हैं और उपासनाका रहस्य बताना हो तो गुह्यतर बोलते हैं और तत्त्वज्ञानका रहस्य बताना हो तो उसको गुह्यतम कहते हैं। १५वें अध्यायके अन्तमें—

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत॥

वह गुह्यतम शास्त्र क्या है? यह नहीं बताया कि इसके मिलनेसे तुम्हें स्वर्ग मिलेगा या वैकुण्ठ मिलेगा अथवा मरनेके वाद मुक्ति होगी। 'एतद् वुद्ध्वा वुद्धिमान्स्यात्'—इसको यदि तुम समझ लो तो बुद्धिमान् हो जाओगे और 'कृतकृत्यश्च भारत'—करनेके बादका फलादेश नहीं है—इसी जीवनमें कृतकृत्य हो जाओगे। 'कृतकृत्यता'—अर्थात् सारे कर्तव्य तुम्हारे पूरे हो गये और सारे ज्ञान तुमको प्राप्त हो गये। 'इदं तु'—आठवें अध्यायमें जो बात कही गयी—दक्षिणायन-उत्तरायण-देवयान-पितृयानका उपदेश। साधना करनेके वाद—मरणोत्तर गति कैसी होती है? और 'इदं तु'—यह तो उससे विलक्षण है। विलक्षण अर्थात् जो लक्षण आठवें अध्यायका है वह लक्षण नवें अध्यायका नहीं है। इसके लक्षण ही दूसरे हैं।

गाँवमें जैसे कहते हैं—भाई इनके लक्षण दूसरे हैं। इसी तरह इस नवें अध्यायके लक्षण ही कुछ दूसरे हैं। 'गुह्यतमं प्रवक्ष्यामि'। गीतामें गुह्य शब्दका प्रयोग है, गुह्यतर शब्दका भी प्रयोग है। गुह्यतम शब्दका भी प्रयोग है और सर्व गुह्यतम शब्दका भी प्रयोग है।

अब यहाँ गुह्यतम अर्थात् गोपनीय—छिपाने योग्य। आप इसे जाहिर करके मत रहिये। जैसे आप किसीसे प्रेमका व्यवहार बाहरसे करते हैं और भीतर से असंग हैं। तब अपनी उदासीनताको प्रकट मत कीजिये। यह मत कहिये कि मैं तुमसे प्रेमका व्यवहार तो करता हूँ, परन्तु मैं असंग हूँ। अपनी असंगताको गुप्त रखकर प्रेमका व्यवहार कीजिये। भीतरसे असंग रहकर भी बाहरसे व्यवहारमें किसी प्रकारकी त्रुटि न हो। असंग व्यवहारकी यह गुप्त बात हो गयी। आप धन कमाइये, पूरी लगनसे कमाइये—परन्तु कहीं थोड़ी घटी-बढ़ी, हानि-लाभ हो तो उसमें दुःखी मत हो जाइये। आगे बढ़िये, परन्तु यह बात गुप्त रखिये। यदि आप अपने कर्मचारियोंमें कहने लगेंगे कि हम तो हानि-लाभमें समान हैं तो आपका काम ठीक नहीं चलेगा। भीतरसे असंग रहिये और बाहरसे अपना व्यवहार बिलकुल ठीक-ठीक कीजिये। एक गुह्यतम बात बता रहे हैं, आप व्यापारमें ऐसी आसक्ति रखेंगे कि हमको तो लाभ ही लाभ हो तो जब कभी हानि होगी तो दुःखी हो जायेंगे और मनमें हानि और लाभको समान मानकर काम करते रहेंगे तो कभी हानि होगी, कभी लाभ होगा। गुप्त रखनेकी बात यह है कि अपनी जो समता है उसे बाजारमें फेंकते हुए मत रहिये। आपके हृदयमें एक गुप्त धन रहना चाहिए। वही गुप्त धन भगवान् अर्जुनको दे रहे हैं :

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्यामि।

प्राय: अन्य स्थानोंमें 'वक्ष्यामि' शब्द काममें आया है, यहाँ 'प्र' उपसर्ग लगा है अर्थात् प्रकृष्ट। वचनमें प्रकृष्टता है और एक विशेष अधिकारी के लिए कहा गया है। 'ते तुभ्यं'—किसको कह रहे हैं ? अपने प्यारे अर्जुनको कह रहे हैं—'ते' माने अत्यन्त प्रिय विशिष्ट व्यक्तिको सुना रहे हैं। यह बात सबसे कहने लायक नहीं है। जो अपना प्रिय हो उसको बतानी चाहिए। 'प्रवक्ष्यामि'—वह विशेषता अर्जुनमें क्या है ? वह हमारे जीवनमें भी आनी चाहिए। वह है 'अनसूयवे'।

वेदमें एक मन्त्र है, उसका अर्थ है—'हे ब्राह्मण ! मेरी रक्षा करना क्योंकि मैं तुम्हारी निधि हूँ। असूयकाय—जो गुणमें दोष निकालनेवाला है और जो ऋजु नहीं है—नम्र नहीं है—सरल नहीं है उसको यह मत बताना।' विद्यामें बल कब आयेगा जब वह दोषदर्शीको न बतायी जाय। हम कभी कुछ लिखाते होते हैं और लिखनेवाला बीचमें टोक दे तो उसका उत्तर सोचनेके लिए बुद्धि वहाँ चली जती है। जो विचारकी धारा बहती है वह विच्छिन्न हो जाती है। हम कहते हैं—भाई, बोलनेमें जो गलती हो वह बादमें पूछ लेना कि यह हमको ठीक नहीं मालूम पड़ा, पर बीचमें मत रोकना। 'गुणेषु दोषाविष्करणे असूया।' कोई अच्छा काम कर रहा हो और उसके अच्छे कामकी प्रशंसा तो न करे और उसमें दोष-दोष जो आये उसको बताता जावे। वह हो गया कर्णका सारथि शल्य। जब कर्ण बाण उठाता तो शल्य कह देता कि इस बाणसे क्या होगा ? बस; उत्साह टूट गया। तुम जिस वंशमें पैदा हुए हो उस वंशमें किसीको निशाना लगाना भी आता है ? मर गया विचारा। उत्साह वीररसका स्थायी भाव है। मनुष्य वीरताका काम कर ही तब सकता है जब उसके मनमें उत्साह बना रहे और उत्साह टूट जावे तो उसकी वीरता भाग

जाती है। अधिकारी ऐसा होना चाहिए जो हमारी बातके गुणको समझे, उसमें जो गुण पक्ष है उसको पूरी तरहसे ग्रहण करे—केवल दोष-पक्षको ग्रहण करनेवाला न हो।

अनसूयवे—असूयुः—असूया जिसमें होती है उसको असूयुः कहते हैं—और अनसूयवे असूयारहिताय। जो दोषपर दृष्टि न दे। वचनके जो गुण हैं उनको अच्छी तरह देखे। समीक्षा करनेका—तुलनात्मक विवेचन करनेका ढंग ही यह है। दो पक्षोंकी तुलना करनी हो तो पहले दोनोंमें समानता क्या है, यह समझना चाहिए। फिर दोनोंमें विशेषता क्या है, दोनोंमें जो अलग-अलग विशेषताएँ हैं उन्हें समझना चाहिए। आप राजनीतिक दलोंकी तुलना करें तो दोनोंमें राष्ट्रहित समान है या नहीं, यह देखना चाहिए। वे किस प्रक्रियासे राष्ट्रहित करना चाहते हैं—इसकी तुलना करनी चाहिए। समानता समझिये, विशेषता समझिये, विरोध समझिये। कौन-सी विशेषता अच्छी है? समानता तो दोनोंकी अच्छी है। विरोध किसका गलत है, किसका सही है—इसपर विचार कर लीजिये। अनसूयु होना चाहिए। केवल दोषदर्शी नहीं होना चाहिए। गुणदर्शी होना चाहिए। दोष तो कहीं भी निकाला जा सकता है।

ईश्वरने सृष्टिमें दुःख क्यों बनाया? ब्रह्माने हाथीको लम्बा बना दिया और सूँड़ भी इतनी बड़ी दे दी और शेरका मुँह बड़ा कर दिया। दोष तो सबमें हैं। रामने बालीको क्यों मार दिया और कृष्णने कुब्जाका संग क्यों किया? ब्रह्मामें भी दोष निकलता है, विष्णुमें भी निकलता है। परन्तु दोष देखनेसे काम नहीं बनता है, उसमें जो गुण है उसका तिरस्कार नहीं करना चाहिए।

आजकल हमारे जो राजनैतिक दल हैं, वे अपने पूर्ववर्ती पुरुषोंके गुणोंके प्रति कृतघ्न हो गये हैं। केवल उनके दोष देखने लगे हैं।

इसको असूया कहते हैं। उसमें यह गलती है और यह अच्छाई है, ऐसा नहीं कहते। श्रोता तो वह है जो बातका ठीक-ठीक अभिप्राय समझे। अर्जुन सरल है। उसके नाममें ही सरलता है। ऋजु है, ऋजुत्वात् अर्जुनः। और वह—श्रीकृष्णके वचनमें दोष नहीं देखता। बल्कि कहता है—'मोहोऽयं विगतो मम, नष्टो मोहः, करिष्ये वचनं तव।' आज्ञाकारी होनेके लिए तैयार हूँ। इसलिए वह सलाह देनेका अधिकारी है।

सलाह किसको देनी चाहिए? गुप्त बात किसको बतानी चाहिए? जो बातके महत्त्वको सरलतासे समझे। क्या बात बताओगे?

ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।

'ज्ञानं विज्ञानसहितं'—देखो पहले सुना चुके हैं—

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानं इदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥

सातवें अध्यायमें तुमने सविज्ञान ज्ञानका वर्णन कर दिया। 'ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानं'—अब 'ज्ञानं विज्ञानसहितं' क्या रहा? असलमें सातवें अध्यायका जो ज्ञान-विज्ञान है वह भक्तके रूपका वर्णन है। भक्तका विज्ञान है।

चतुर्विधा भजन्ते मां ये जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥

भजन करनेवाले कितने प्रकारके होते हैं? आर्त होते हैं—संसारके दुःखसे मुक्ति चाहते हैं। वे संसारके दुःखसे अभिभूत हैं। जिज्ञासु हैं—परमात्माके स्वरूपको जानना चाहते हैं। अर्थार्थी—परमात्माको प्राप्त करना चाहते हैं। जो परमात्माका अनुभव कर चुके हैं, वे हैं ज्ञानी। इस प्रकार सातवें अध्यायमें भक्तका विज्ञान

है। आठवें अध्यायमें साधनाका विज्ञान है। कैसे-कैसे ध्यान करना चाहिए और ध्यान करके कैसे उत्तरायण, दक्षिणायन गतिको प्राप्त करना चाहिए। नवें अध्यायमें जो विज्ञान है, ज्ञान-विज्ञान वह--भगवान्का क्या स्वरूप है, यह बताता है। तो भक्तका विज्ञान है सातवें अध्यायमें और भक्तिका विज्ञान है आठवें अध्यायमें तथा भजनीयका विज्ञान है नवें अध्यायमें। भगवान्का स्वरूप क्या है?

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥

यह भगवान्के स्वरूपका वर्णन है। अठारहवें अध्यायमें ब्राह्मणके स्वभावका जहाँ वर्णन किया गया है वहाँ भी ज्ञान-विज्ञानका उल्लेख हुआ है।

ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।

ब्राह्मणको केवल शास्त्रका ज्ञान नहीं होना चाहिए। कर्म-काण्डका विज्ञान भी होना चाहिए। अर्थात् शास्त्रमें पढ़ लिया कि होम कैसे किया जाता है, विवाह, यज्ञोपवीत आदि कैसे होते हैं, परन्तु करना नहीं आया। जैसे कानूनका ज्ञान होता है और एक वकीलके साथ रहकर उसका विज्ञान प्राप्त किया जाता है। आयुर्वेदका ज्ञान होता है और एक वैद्यके साथ रहकर उसका प्रायोगिक ज्ञान प्राप्त किया जाता है। इसी प्रकार आत्मा-परमात्मा-सम्बन्धी ज्ञान है और दूसरा उसका अनुभव। यह केवल शास्त्रीय ज्ञान नहीं है, परोक्ष ज्ञान नहीं है। अपरोक्ष अनुभवयुक्त ज्ञान है। इसलिए बताया है कि 'ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानम्।' यह ज्ञान विज्ञान-सहित है। अब इस ज्ञानका फल बताते हैं, क्योंकि फलश्रुतिके विना श्रोतामें रुचि नहीं जगती है। किसी भी वस्तुको यदि हम जानें

तो जाननेसे क्या होगा, यह बात भी मालूम पड़नी चाहिए। बोले—यज्ज्ञात्वा—ज्यों आप इसको जानोगे तो यह असमाप्त क्रिया है। ज्ञात्वा—जैसे उपविश्य भुंक्ते—बैठकर खाता है। बैठना और खाना दोनों एक साथ है। ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्—जानोगे और अशुभसे मुक्त हो जाओगे। अशुभ क्या है? जब मृत्युकी चर्चा करने लगते हैं तो कहते हैं—भाई अमंगल है—इसका नाम मत लो। अशुभ है—अतः मृत्युसे छूटकर हम अमृतत्व प्राप्त कर लें। अपनेको अमृत रूपमें जान लें, यह अशुभसे मुक्ति है और दुःखसे हम छूट जावें। दुःख भी अशुभ है। अशुभ कर्मका फल होनेसे भी अशुभ है और दुःखको कोई पसन्द नहीं करता। वह किसीका भी प्रिय नहीं है। अप्रिय होनेसे भी अशुभ है। घरमें-से निकले कहीं जानेके लिए और जो नापसन्द है वही आकर सामने खड़ा हो गया—अशुभ हो गया। रास्ता काट दिया—अशुभ हो गया। अशुभ क्या है? अशुभ है दुःख। जिसको देखकर मनमें दुःख होता है, उसका नाम है। मृत्यु अशुभ है, दुःख होना अशुभ है और अज्ञान, बेहोशी, नासमझी—ये सब अशुभ हैं, मृत्यु अशुभ है, दुःख अशुभ है, अज्ञान अशुभ है।

अशुभात्—यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।

मृत्युका डर निकल जावे और दुःख जीवनमें न आये और अपने जीवनमें जो नासमझी है वह मिट जावे तब हम अशुभसे मुक्त हुए। यह जो ज्ञान हम गीतामें देने जा रहे हैं वह कैसा है? वह अशुभसे मुक्त करनेवाला है। इसमें 'ज्ञात्वा मोक्ष्यसे'का अर्थ है—

कर्मनिरपेक्षम्, उपासनानिरपेक्षम्, रोगनिरपेक्षम् ज्ञात्वैव मोक्ष्यसे।

वैसे हम लोगोंका जो जीवन है, उसमें दो चीजें हैं। आँखसे देखते

हैं और पाँवसे चलते हैं। आँख हुई ज्ञान और चलना हुआ कर्म। मनुष्यका जीवन कर्म-ज्ञानका मिश्रण है। आप अपनेको देखकर पहचानो—जब आप पसन्द करते हैं कि हम अंगूर खायेंगे तब आप अंगूर खाते हैं अपने मनमें, बाहर उसे देखते हैं। देखके चलते हैं। चलते जाते हैं और देखते जाते हैं। कर्म ज्ञानकी सहायता करता है, ज्ञान कर्मकी सहायता करता है, यह है व्यावहारिक जीवन। लेकिन यदि अपने आत्माका ज्ञान प्राप्त करना हो तो कहाँ चलकर जाओगे? आत्मा आत्माके पास चलके जायेगा? इसलिए ज्ञान ज्ञानमें अन्तर होता है। आत्माका ज्ञान धर्मोपासना-सापेक्ष नहीं होता और संसारका जो ज्ञान है उसमें कर्म और उपासना दोनों चाहिए। समुचित ज्ञान कहते हैं उसको। व्यावहारिक ज्ञानमें दोनोंका समुच्चय है।

यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।

यह ऐसा ज्ञान है—आत्मज्ञान है कि ब्रह्मज्ञान है—यह ठीक-ठीक हृदयंगम कर लो तो न तुम्हें मृत्युका भय रहेगा, न दुःख रहेगा और न नासमझी ही रहेगी। इन तीनोंसे वह मुक्त कर देगा। कोई-कोई पण्डित हैं वे—'मोक्ष्यसेऽशुभात्'में कहते हैं 'अ' क्यों डालते हो? 'मोक्षसेऽशुभात्-मोक्षसे शुभात्।' यह जो शुभ-अशुभका चक्कर है—जिसकी दुविधामें अपने काम लटके रहते हैं--वह दुविधा ही छूट जावेगी—शुभ और अशुभ दोनों छूट जायेंगे। गीताको यह अभीष्ट है।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।

शुभ और अशुभ फल देनेवाले जो कर्मबन्धन हैं उनसे तुम मुक्त हो जाओगे। शुभ कर्मबन्धनका फल होगा शुभ और अशुभ कर्म-बन्धनका फल होगा अशुभ। सभी भगवान्‌को अर्पित कर दो—

भगवान्‌के प्रति कर्म करो--अपने लिए काम करोगे तो तुम्हारे सामने शुभ-अशुभ आयेंगे और भगवान्‌के लिए काम करोगे तो तुम्हारे सामने शुभ-अशुभ आयेंगे ही नहीं। इसीसे गीतामें शुभाशुभ-परित्यागी—कौन होता है ? भक्त होता है—भगवान्‌का भक्त होता है। हमने सर्वस्व अपना दे दिया, किसीको अर्पित कर दिया। अब बोले भाई, जो ऋण है वह कौन चुकायेगा ? नहीं-नहीं हमने धन तो दे दिया, ऋण अपना थोड़े ही दिया है। नहीं भाई, यदि किसी भलेमानुस को दिया है और उसने तुम्हारा सब कुछ ले लिया है, तो तुम्हारे ऋणकी जिम्मेवारी भी उसको लेनी चाहिए। यदि तुम उनको अपना सर्व शुभ समर्पित कर दो—अशुभ समर्पित करनेमें संकोच होता है, तभी भगवान् तुम्हें जैसे शुभ फलसे मुक्त करेंगे वैसे अशुभ फलसे भी मुक्त करेंगे और अपनेमें मिला लेंगे। इसलिए 'मोक्ष्यसे शुभात्।' अब इस विद्याकी प्रशंसा निज मुखसे श्रीकृष्णने की है—

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥

यह विद्याओंका राजा है, विद्यानां राजा राजविद्या अथवा राज्ञः विद्या राजविद्या। दोनों तरफसे समास बनता है। यह विद्याओंका राजा है, मानें जो विद्या तुम सीखते हो वह विद्या तुमको दुःखसे छुड़ाती है कि नहीं--आपकी विद्या बहुत बड़ी है। एक बाबूजी थे। वे नावपर कहीं यात्रा कर रहे थे। बातचीत किये बिना मन नहीं मानता था। जिसको बोलनेका अभ्यास हो जाता है वह बिना बोले रह नहीं सकता। उन्होंने नाविकसे पूछा—'तुम कुछ विज्ञानकी बात समझते हो?' उसने कहा, 'नहीं।'

बाबू--ज्योतिष समझते हो ?

उसने कहा--नहीं ।

'कुछ नक्षत्र-विद्या जानते हो ?' उसने कहा, 'नहीं ।'

जो पूछें सो कह दें 'ना'। थोड़ी देर बाद नाव भँवरमें फँस गयी । नाविकने पूछा, 'बाबूजी, आप तैरना जानते हैं ?'

बोले कि 'नहीं ।' तो वह बोला, 'आप अपनी सब विद्या लेकर डूबिये और मैं—मल्लाहकी तो लँगोटी भींगती है—अब तैर जाऊँगा ।' आप जिस विद्याको जानते हैं वह आपको दुःखसे छुड़ानेमें समर्थ है कि नहीं ? आपके सामने कोई समस्या आवे तो उसको सुलझानेमें समर्थ है कि नहीं ? आपको दुःखसे छुड़ानेमें समर्थ है कि नहीं? आपको मृत्यु-भयसे छुड़ानेमें समर्थ है कि नहीं ? तो विद्याओंका राजा यह है—'विद्यानां राजा'—यह राजा है । यह आपको सारे दुःखोंसे छुड़ा देगी ।

यह विद्या जो हम बता रहे हैं, यह राजाओंकी विद्या है । राजाओंकी विद्या कैसे है ?

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तावानहमव्ययम् ।

× × ×

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ॥

यह विद्या राजर्षियोंको ज्ञात है ।

एक प्रसंग आता है—

अश्वपतिके पास विद्वान् समागत हुए तो राजा अश्वपतिने कहा, यह विद्या अबतक राजवंशमें ही रही है, ब्राह्मणोंको यह विद्या मालूम नहीं थी । आज पहले-पहल हम ब्राह्मणोंको यह विद्या देते हैं । इसका नाम राजविद्या है । राजर्षि विद्या है । राजा

भी हो, ऋषि भी हो। राजा अलग होता है, ऋषि अलग होता है और यह विद्या ऐसी है कि जो राजाको ऋषि बना दे। याने अपना राज-काज करता रहे और असंग व्यवहार करे। यह राजविद्या है। राजवंशमें भी यह विद्या तो रही है परन्तु राजाओंने इसको गुप्त रखा है और गुह्योंका राजा। जितने भी गोपनीय पदार्थ हैं वे सबको नहीं दिखाये जाते।

यह गोपनीय विद्या इसलिए है कि अन्तरमें इसमें आत्मस्थिति होती है और व्यवहारका ठीक-ठीक पालन होता है। अपनी जो अन्तःस्थिति है उसको गुप्त रखनेकी बात है। अब प्रश्न यह आया कि गोपनीय जो बात होती है उसमें कहीं-कहीं गन्दगी भी होती है। कोई गन्दी बात होती है तो कहते हैं—भाई इसको गुप्त रखो। जैसे तान्त्रिक अपनी साधना करते हैं तो उसको गुह्य मानते हैं। गोपनीय मानते हैं। उसमें क्या-क्या होता है, वह एक अलग बात हो जाती है। सचमुच गुप्त रखनेकी चीज है। अगर बाहर प्रकट हो गयी तो·······तो क्या आप भी गीतामें कुछ ऐसा बतानेवाले हैं ? तुरन्त 'राजगुह्य'के बाद क्या है ? 'पवित्रं' कोई गन्दी बात इसमें नहीं है। पावन करना, पवित्र करना इसका काम है। 'पवित्रं–पुनाति'—जो हमारे हृदयको, जीवनको पवित्र कर दे, ऐसी विद्या है।

यदि इन्द्र तुम्हें वज्र भी मार रहा हो तो इन्द्रका वज्र व्यर्थ जायगा, वह तुम्हारे ऊपर नहीं लगेगा। इतनी पवित्र है। जीवनकी सारी अपवित्रता दूर हो जायगी। अच्छा, यह विद्या क्या है ?

पवित्रमिदमुत्तमम्।

उत्तमका अर्थ है, पवित्र तो हो पर उत्तम न हो, ऐसा भी हो सकता है। जैसे आपको पवित्रसे पवित्र भी जल दे दें लेकिन उसमें

गँदलापन दिखेगा तो थोड़ी हिचक हो जायगी। गंगाजल तो बड़ा पवित्र है, लेकिन बरसातके दिनोंमें जब मैला होकर बहता है तो कई हमेशा स्नान करनेवाले भी स्नान करनेमें हिचकते हैं। पवित्र भी है और उत्तम भी है। 'उदिति गंगा'—उत् याने ऊपर—जो सर्वोपरि है उसका नाम होता है उत् और उत्, ऊपर, उत्तम—जो सबसे ऊपर हो, सर्वोपरि—निरतिशय होवे, जिससे बड़ा और कोई न हो—निरुत्तर हो—इससे बड़ी विद्या और कोई नहीं है।

यह विद्या उत्तम है, इसका कोई प्रमाण भी है? हम कैसे विश्वास कर लें? उत्तरमें कहा जा सकता है कि परलोक है—किसने प्रत्यक्ष रूपसे परलोकको देखा है? लौटकर आया है, बता रहा है कि हम स्वर्ग होकर आये हैं—यह देखकर आये हैं। विद्या ऐसी होनी चाहिए कि हम यहीं अपने जीवनमें उसका अवगम, अधिगम कर सकें। अदृष्ट विद्या नहीं है। जहाँ पूर्वमीमांसा धर्म, श्रौतस्मार्त-धर्म, मनुस्मृतिका धर्म, वेदोक्त धर्म अदृष्टविषयक हैं, वहाँ गीता दृष्टविषयक अर्थात् इसी जीवनमें—'प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं'—हाथ कंगनको आरसी क्या? इसका फल अभी देख लो। आप इसका फल आँखोंसे देख सकते हैं, कानोंसे सुन सकते हैं, जीभसे चख सकते हैं, त्वचासे छू सकते हैं। प्रत्यक्षं अर्थात् 'अक्षं-अक्षं प्रति'—प्रत्येक इन्द्रियमें। आपके हाथमें काम करनेकी शक्ति रहेगी। आपकी वाणीमें बोलनेकी शक्ति आ जायगी। क्योंकि इसमें सारी दुविधा मिट जाती है।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।

सब भगवान् ही है।

मत्स्थानि सर्वभूतानि—न च मत्स्थानि भूतानि—

यह सर्वकी भगवत्ताका जो प्रतिपादन है, यह आपके चित्तमें जितनी द्विधा है, जितना द्वैत है (द्वैत शब्द अंग्रेजीमें 'डाउट' (Doubt) हो जाता)। आपके मनमें जितना संशय है वह निर्मूल करनेके लिए यह विद्या है। 'प्रत्यक्षावगमं'—जो वस्तु प्रत्यक्ष होती है वह धर्मसे दूर हो जाती है। केवल लौकिक भोग, लौकिक सुख, लौकिक वस्तुका जब दर्शन करेंगे तो उसमें धर्मपर परदा पड़ जायगा। हमको यह धन, स्त्री, पुत्र चाहिए—यह जो धर्मपर परदा पड़ जाता है, वह असलमें गलत है। ('गलत' शब्द संस्कृतका ही है। जैसे 'गलितं'--गलत--जो अपने स्थानसे च्युत हो गया—गलके गिर गया उसको गलत बोलते हैं—स्थानभ्रष्ट हो गया। कोई भी चीज अपनी जगहसे हट जाय, हाथ अपनी जगहसे हट जायँ, पाँव अपनी जगहसे हट जायँ तो गलत हुआ।) अब आओ जो विद्या हम बता रहे हैं कि सबमें परमात्मा है--सब परमात्मा है। परमात्माके सिवाय और कुछ नहीं है—

न च मत्स्थानि भूतानि।

यह विद्या जो हम बताने जा रहे हैं, इसमें आप सर्वथा संशयमुक्त होकर, निर्द्वन्द्व होकर--अपने कर्तव्यका पालन करेंगे। दाहिने जायें कि बायें, यह शंका आपके मनमें कभी नहीं आयेगी। प्रश्न उठा, कहीं धर्म छूट जाय तो? उत्तर होगा, नहीं धर्म बना रहेगा--'धर्म्यं'--धर्म होता है हमारे हृदयमें। धन बाहर होता है और काम रहता तो भीतर है, लेकिन कामना बाहरकी वस्तुकी होती है। याने अर्थ जहाँ स्वयं बाह्य है, वहाँ कामना बाह्य-विषयक होती है। यही अन्तर है। धर्म है बुद्धिमें। बुद्धि—अर्थ और काम दोनोंको नियन्त्रित करती है। स्पष्ट रूपसे उपनिषद्में यह बात आयी है। अर्थात् तुम्हारी बुद्धि बनी रहेगी--

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥

तुम्हारी बुद्धिका नियन्त्रण है तुम्हारे मनपर, शरीरपर बना रहेगा। अनियन्त्रित नहीं होगा। 'धर्म्यम्--धरति इति धर्मः, धारणात् गृह्यते इति धर्मः।' जिसको हम धारण करें, उसका नाम धर्म। 'धर्मो रक्षति रक्षितः'—यदि तुम धर्मकी रक्षा करोगे तो धर्म तुम्हारी रक्षा करेगा। यदि तुम अपने धर्मकी रक्षा नहीं करोगे तो वह भी तुमसे निरपेक्ष हो जायगा और तुम्हारी सर्वथा उपेक्षा कर देगा। श्रोता यह सुनकर प्रश्न करता है कि भगवन्! ऐसे दुष्कर धर्मका पालन करना तो बहुत कठिन होगा। धर्म भी हो, फल प्रत्यक्ष भी हो, उत्तम भी हो--तो बहुत कठिन होगा करना, उत्तर मिला, नहीं--'कर्तुं सुसुखम्।' सुखमें पहलेसे 'सु' तो है ही, एक 'सु' और जोड़ दिया—करनेमें अत्यन्त सुगम है। ऐसी विद्या हम बतायेंगे।

पहले जितनी विद्याएँ बतायी गयी हैं, उनसे यह नवें अध्यायकी विद्या विलक्षण है। यह पूर्वार्धका उपसंहार है। इसमें जो अन्तिम श्लोक है--

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥

इस श्लोकको मध्यवर्ती श्लोक मानते हैं। गीतामें बीचो-बीचका श्लोक नवें अध्यायमें है। करनेमें आसान है, सुगम है, अनायास है। शंका होगी, करनेमें आसान है तो फल थोड़ा होगा। बोले, नहीं--'अव्ययः'। इसका फल अविनाशी है। 'न व्ययति'--कभी वह घिसता नहीं है, कम नहीं होता है। ऐसी विद्या--आओ श्रद्धाके साथ—इसका अर्थ है, पहले श्रोताके मनमें अपने

उपदेशके प्रति श्रद्धा उत्पन्न करके और वह प्रेमसे इसको सुने और समझे और तदनुसार आचरण करे। इसके लिए पहले विद्याकी प्रशंसा--इसको सुनकर पहले श्रोताके मनमें इच्छा जगेगी कि हम इस विद्याको प्राप्त करें और कोई इसपर श्रद्धा नहीं करेगा तो क्या होगा?

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥

श्रद्धा करो, वेद कहता है—बेटा, जब बतावें कि यह जो शकल हमने बनायी है—पञ्चकोण—इसका नाम 'अ' है, यह सुनकर यदि तुम पहले ही शंका करोगे कि इस आकृतिका नाम, इस शकलका नाम 'अ' कैसे? तो कुछ पढ़ सकोगे? इस आकृतिका, इस शकलका नाम—पहले मास्टरकी बात मानकर इसी शकलको जब देखो तब 'अ' बोलो। कहाँसे 'अ' आया? 'अ' तो भीतरसे बोला जाता है? कागजपर कहाँसे 'अ' आया? जवाब मिला, नहीं भाई, हमारे गुरुजीने बताया है कि इस शकलको देखो तो 'अ' कहना होता है। जो श्रद्धालु नहीं होगा वह तो एक अक्षर भी नहीं सीख सकेगा। तुम्हारा नाम अ, ब, स कुछ है। कैसे? बताओ? समझाओ हमको—मेरा नाम कैसे? अच्छा तुम्हारी माता यह है, नहीं, हमको दिखाओ—यह हमारी माँ कैसे? हमारे पिता हैं, यह कैसे मालूम हुआ कि ये हमारे पिता हैं? श्रद्धासे मालूम पड़ता है—श्रद्धस्व····

जो श्रद्धा नहीं करेगा उसके हविष्यको देवता लोग ग्रहण नहीं करते हैं।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

●

प्रवचन : २

गीता क्या है ? गीता वाङ्मयी माँ है। सरस्वती माँ है। अम्बा है। अम्बाका अर्थ है वर्णमयी माँ, वाङ्मयी माँ। बालक जैसे अपनी माँका दूध पीता है वैसे ही 'दुग्धं गीतामृतं महत्'—इस महागीतामृतका पान करें !

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥
अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥
मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥
यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥

राजविद्या विद्याओंकी राजा है जो राजवंशमें गुप्त रही है। सर्वश्रेष्ठ गोपनीय है। सर्वश्रेष्ठ इस राजविद्याको राजाओंने अपने हृदयमें गुप्त रखकर-छिपाकर राजकाज चलाया है और सारा व्यवहार करते हुए भी मृत्युसे निर्भय होकर राज्यका संचालन

किया। यदि मृत्युसे अभय नहीं हो तो युद्धमें, संघर्षमें कैसे उतरेगा ? सूझ-बूझ न हो, समझदारी न हो, अज्ञान न मिटे तो राजकाज कैसे चलेगा ?

दुःखसे बचनेकी विद्या अगर न मालूम हो तो मनुष्यका जीवन चल ही नहीं सकता। यह विद्या अशुभसे अर्थात् मृत्युसे, दुःखसे और अज्ञानसे मुक्त करनेवाली है। आप इसी जीवनमें इसे धारण करें।

आठवें अध्यायकी विद्या ऊर्ध्व नाड़ी द्वारा परलोकमें जानेकी विद्या है और नवें अध्यायकी विद्या है इसी जीवनमें मृत्युके भयसे, दुःखसे तथा अज्ञानसे मुक्त रहकर व्यवहार करनेकी। इतनी सुगम और प्रत्यक्ष है यह विद्या। प्रत्यक्षावगमंका अर्थ है—इसी जीवनमें प्रत्यक्ष देख लो। परमात्मासे प्रत्यक्ष मिला देनेवाली ऐसी यह विद्या है। यह विद्या धर्मके अनुकूल है। धर्म कभी इससे दूर नहीं होता। वह जीवनमें बना रहता है और परिपालनमें सुगम हो जाता है। इस विद्याका फल अव्यय, अविनाशी है। संसारमें इतने बुद्धिमान् लोग हैं फिर इस महान् गुणवाली विद्याको प्राप्त क्यों नहीं करते--ग्रहण क्यों नहीं करते ?

इस विद्याको प्राप्त न होनेमें एक ही कारण है—अश्रद्धा। श्रीमद्भागवतमें एक दृष्टान्त दिया है—एक मनुष्यको जलकी आवश्यकता थी और वह एक निर्मल सरोवरके पास खड़ा था किन्तु वहाँ जलपर काई छायी हुई थी। उसने सोचा, भला यहाँ जल कहाँ मिलेगा ? फिर वह मरुस्थलकी ओर दौड़ा। जहाँ मृगमरीचिकाका साम्राज्य था। चारों ओर झूठा जल चमक रहा था। जैसे मूर्ख मनुष्य जलके फेनसे, काईसे, सेवारसे आच्छादित जलको देख उससे विमुग्ध हो जाये वैसे ही जीवनमें

परमात्मा अपने हृदयमें ही तो है—'कस्तूरी कुण्डलि बसै, मृग ढूढ़ै वन माहिं' जैसी स्थिति है। अपने ही भीतर परमात्माको छोड़ हम बाहर भटकते हैं।

भगवती श्रुति कहती है, वेद भगवान् कहते हैं कि यह मनुष्य शरीर जब प्राप्त होता है तो इसमें आत्मा, परमात्मा सर्वथा प्रकट रूपमें रहता है। यह पुरुष शरीर अद्भुत है परन्तु श्रद्धा चाहिए। श्रद्धाके बिना व्यवहार नहीं चलता। यह माँ है, यह मानोगे नहीं, श्रद्धा नहीं करोगे, तो व्यवहार नहीं चलेगा। श्रद्धा नहीं करोगे कि यह मेरा पिता है तो कैसे निश्चय होगा कि यह मेरा पिता है। लेबोरेटरी में निश्चय होगा कि यह तुम्हारा पिता है? डाक्टर, वैद्यपर विश्वास नहीं करोगे तो औषध कैसे खाओगे? बिना श्रद्धाके तो साधारण व्यवहार भी नहीं चल सकता।

पचास वर्ष पुरानी बात है। हमारे गुरुजी तमकुहीके राजाके यहाँ गये थे। जब उनके यहाँ भोजन करना हुआ तो पहले डाक्टरने भोजनकी परीक्षा की। पर डाक्टरपर भी पूरा विश्वास नहीं था। उसको भोजन करनेके लिए साथ बैठाया गया। जिस भोजनकी परीक्षा की गयी थी, वही भोजन राजा साहब करते और डाक्टरको भी खाना पड़ता। अब बताओ, इतने अश्रद्धालु, इतने अविश्वासी पुरुषका काम-काज कैसे होगा? पत्नीपर विश्वास होना चाहिए, पतिपर विश्वास होना चाहिए नहीं तो घर नरक हो जायेगा।

हमारे विद्वान् वेदान्ती मधुसूदनजी कहते हैं—'श्रद्धा मुनियोंका सम्बल है।' उपनिषद्का कहना है कि श्रद्धाकी पूँजी लेकर अपने हृदयमें परमात्माका, सत्यका निरीक्षण करो। एक बार पिलानीके शिक्षाशास्त्री आये, बोले—महाराज, हम लोग अनुसन्धान करते हैं—क्या-क्या सावधानी रखनी चाहिए? मैंने कहा—

तितिक्षा, श्रद्धा, मनमें शान्ति हो तब न अनुसन्धान करोगे ! अपनी इन्द्रियोंपर काबू हो, तब अनुसन्धान होगा। श्रद्धा हो तब हमें सफलता मिलेगी, तब अनुसन्धान होगा। उसमें जो तकलीफ आये, दुःख आये, कठिनाई आये उसको सह लो। तितिक्षा—दूसरी ओरसे मन हटाकर उसीमें लगाओ। उपरति—सफलताकी श्रद्धा, मनकी एकाग्रता। वेदान्तमें ब्रह्मज्ञानके लिए जो-जो सामग्री चाहिए वह सब अनुसन्धानके लिए आवश्यक है। विवेक चाहिए, अनन्य वैराग्य चाहिए—यही अनुसन्धानकी सामग्री है। इसके विना आप किसी भी विषयका ठीक-ठीक अनुसन्धान नहीं कर सकते।

अब यहाँ बोलनेकी माया सुनाते हैं। इसको अन्वय व्यतिरेक कहते हैं। यह अव्यय फल देनेवाली विद्या है। यह वर्णन की अक्षय शैली है। इस विद्याको प्राप्त करोगे तो अविनाशी फल मिलेगा। यह अत्यन्त सुगम है। इसका फल मरनेके वाद नहीं, प्रत्यक्ष है। अतः आओ, इस विद्याको प्राप्त करो। इसका नाम है अन्वय-प्रक्रिया। इस विद्याको जाननेसे आपको क्या मिलेगा और न जाननेसे क्या हानि होगी ? यह है व्यतिरेक प्रक्रिया। नहीं जानोगे तो ? 'अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि।' तुम ऐसे स्थानपर पहुँच गये हो जहाँ हाथसे परमेश्वरको छू सकते हैं। ऐसी जगहपर पहुँचकर भी तुम उसको छू नहीं सकोगे—लौट आओगे।

महाभारतमें एक कथा है—देवताके प्रसन्न होनेपर उत्तंक ऋषिने आग्रह किया कि हमें अमृतका घड़ा चाहिए। देवता पहले तो माने नहीं, फिर किसी तरहसे मनाया। लेकिन देवताओंने विचार किया कि इनको अमृत नहीं मिलना चाहिए। अतः अत्यन्त गन्दा रूप धारणकर गन्दे पात्रमें अमृत लेकर आये और बोले, 'महामुनि, लो अमृत ग्रहण करो !' उन्होंने बिगड़कर कहा, 'दूर

रहो ! तुम इतने गन्दे हो और यह पात्र इतना गन्दा है कि इसमें अमृत भला कहाँ हो सकता है ? अमृत तो था ही, लेकिन उनकी ऐसी श्रद्धा नहीं हुई और देवता अमृत लेकर चले गये।

तो, जो गढ़ा जाय उसका नाम घड़ा होता है........'घटयते स घटः।'

शरीर भी तो घट है—हाथ, पाँव, आँख, कान, मुख, नासिका दिल, दिमाग दिखनेमें बड़ा सुन्दर है पर इनसे जो चीज निकलती है वह गन्दी निकलती है। गन्दगीका खजाना है यह शरीर। इसमें अमृत भरकर रखा है। अतः घड़ेको मत देखो। इसमें जो अमृत भरा हुआ है उसको देखो।

पुरुषके शरीरको ब्रह्माजीने बनाया है। ब्रह्माजीने पहले दैत्योंको बनाया। ये आसुरी प्रकृतिके होते हैं, दूसरोंको दुःख देने-वाले। बोले, भाई इनको ब्रह्मज्ञान कैसे होगा ? तब देवताओंको बनाया जिनकी रुचि भोगमें होती है। अतः भुक्ति-प्रधान देवता हैं और क्रोध-प्रधान दैत्य और यह मनुष्य जीवन लोभकी प्रधानतासे पैदा हुआ है। इसमें संग्रहकी प्रवृत्ति बहुत बड़ी है। इसीसे दैत्योंके लिए दया, देवताओंके लिए दम और मनुष्योंके लिए दानका उपदेश है। क्रोधके विरुद्ध दया, भोगके विरुद्ध संयम और लोभके विरुद्ध दान।

उपदेश सदा अधिकारीके अनुरूप होता है। पुरुषमें जो लोभ है, यदि इसके प्रति त्यागकी, वैराग्यकी भावनाका उदय हो जाय और परमेश्वरके प्रति श्रद्धा जग जाय तो उसका कल्याण हो जाय। यदि मनुष्यके मनमें श्रद्धा नहीं है तो उसे महात्मा कभी नहीं मिल सकता। परमात्माकी प्राप्ति अनुभवसे होती है और महात्मा श्रद्धासे मिलता है। महात्मापन अन्तरंग है, हृदयमें रहता

है। वह इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, इसलिए श्रद्धा करनी पड़ती है। जिसके हृदयमें श्रद्धा आती है वह महात्मा हो जाता है।

यह मनुष्य शरीर श्रद्धाके द्वारा परमात्माको प्राप्त करनेका माध्यम है और यदि श्रद्धा नहीं आयी तो परमात्मा नहीं मिल सकता—'अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि।' कालयवनने पीछा किया तो भगवान् कहाँ मिले? जरासन्धने पीछा किया तो वे कहाँ मिले? क्योंकि उनके मनमें श्रद्धा नहीं थी कि ये भगवान् हैं। लेकिन जिनके मनमें श्रद्धा थी उन्होंने भगवान्को पकड़ लिया, बाँध लिया।

आओ हम भगवान्को पहचानें। गीताके नवें अध्यायमें जो भगवान्की पहचान है वह अद्भुत है। आप लोग अनेक मजहबोंकी बातें पढ़ते होंगे, किन्तु सनातन धर्मको छोड़कर अन्य सभी मजहबोंमें ईश्वरको हमारे व्यक्तिगत जीवनसे, व्यावहारिक जीवनसे दूर कर दिया गया है। हम तो साकार हैं और साकार जगत्में विहरते हैं। हमारा सारा व्यवहार शरीर जगत्में चलता है। यदि ईश्वर सर्वथा निराकार ही हो और रहे तो हमारे जीवनके साथ इसका क्या सम्बन्ध हो सकता है? आत्मा भी तो निराकार है। जीव भी निराकार है और निराकार होकर भी इस शरीरमें रहता है। तो निराकार परमात्मा क्या इस जगत्में नहीं रह सकता? जबतक हम अपनेको साकार मानते हैं, शक्ल-सूरतवाला समझते हैं हमारा परमात्मा भी तबतक शक्ल-सूरतवाला होगा।

बौद्धधर्मावलम्बी गौतमबुद्धको भगवान् मानते हैं, परन्तु वे पहले जीव थे। उनके चौरासी जन्म हुए—बकरा, हाथी, पण्डित हुए। इसके पश्चात् उन्हें बुद्धत्व प्राप्त हुआ। जीवका उत्कृष्ट रूप

उनके यहाँ भगवान्‌के रूपमें प्रकट होता है। महावीर भगवान् हैं, परन्तु वे भी पहले जीव थे और साधन करते-करते उन्हें भगवान्‌की पदवी प्राप्त हुई। परन्तु यह सम्पूर्ण जगत् भगवान्‌का रूप है भगवत्-स्वरूप है, यह बात किसी मजहवमें नहीं है। दुनियाको वनानेवाला ईश्वर है, जैन धर्म यह भी नहीं मानता। उसके मतानुसार जगत्‌की सृष्टि कर्मने की है। बौद्ध धर्मके अनुसार वासना-द्वारा सृष्टि हुई है। आर्यसमाज, मुस्लिम और ईसाई आदि धर्मोंमें ईश्वरको जगत्‌का सृष्टिकर्ता तो मानते हैं किन्तु स्वयं ईश्वर जगत् बन गया या जगत्‌के रूपमें ईश्वर ही प्रकट है, ऐसा मत केवल हमारा वैदिक, श्रौत मत है।

इस विशेषताको जव आप समझ लेंगे तो आपके ध्यानमें आयेगा कि हम एक पत्थरमें भी ईश्वर-बुद्धि कर सकते हैं। पत्थरमें तत्त्वके रूपमें जो असली पदार्थ है—उपादान है वह चेतन ब्रह्म है। इसीलिए हम पीपलके रूपमें, गायके रूपमें, धरतीके रूपमें, गङ्गाजलके रूपमें, समुद्रजलके रूपमें, अग्नि-वायु-आकाशके रूपमें भगवान्‌की पूजा करते हैं। चिदम्वरम्‌में जाकर देखिये। वहाँ एक माला लटकायी हुई है। उसके भीतर जो गोल-गोल छिद्र है आकाश, उसका नाम है चिदम्वरम्। वह परमात्माका स्वरूप है। स्फटिक लिंग वहाँ परमेश्वर नहीं है। वहाँ जो मालाके भीतर अवकाश—छिद्र है उसे चिदम्बरम्—परमेश्वर मानते हैं।

ईश्वरको ढूढ़नेके लिए हमें स्वर्गमें, वैकुण्ठमें या सातवें आसमासमें नहीं जाना है। समाधिकी गुफाओंमें प्रवेश करके परमेश्वरका दर्शन नहीं करना है। उसको बाहर आनेमें कोई डर तो है नहीं। वह तो निर्भय है। जो ईश्वरको जानता है वह भी अभय हो जाता है। इसीसे ईश्वरकी पहचान बतायी गयी—'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना……।'

संस्कृत भाषाकी एक विशेषता है—'इदं सर्वं जगत्। मया ततं मया आततं'—ततं और आततं दोनों निकलता है। आततंका प्रयोग वेदमें मिलता है—'तद्विष्णो परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुरात यं।' जैसे आकाशमें सूर्यकी रोशनी फैली हुई है, जैसे आकाशमें हमारी आँखकी रोशनी फैली हुई है, इसी प्रकार सम्पूर्ण जगत्में ईश्वर परिव्याप्त हो रहा है। जैसे कपड़ा सूतके सिवा और कुछ नहीं है। चाहे उसे ताना कहो अथवा वाना, चाहे वुनाई करते समय उसमें हाथी बनालो अथवा घोड़ा, डण्डा वना लो या बाँसुरी, कृष्ण बनालो अथवा राम, पर है वह सूत ही—'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।' मया—मेरे द्वारा। 'इदं सर्वं जगत्'—जगत्का लक्षण है। लक्षण माने जगत्को पहचानो। जगत् क्या है? 'गच्छति इति जगत्।' जो वदलता है उसका नाम जगत् है।

ऐसे परिवर्तनशील जगत्में हमें ईश्वरको पहचानना है—'मुझको क्या तू ढूँढ़े बन्दे मैं तो तेरे पास।' क्या आप ईश्वरके बारेमें ऐसा ख्याल रखते हैं कि वह ऊपर कहीं सातवें आसमानमें होगा, वैकुण्ठमें होगा या हिमालयमें रहता होगा—'काहे रे वन खोजन जाई।' परमेश्वरको ढूढ़नेके लिए जंगलमें मत जाओ। यह आपका जो हृदय है, आपका जो शरीर है, यही परमात्माकी उपासनाका, निवासका स्थल है। 'मया ततमिदं सर्वम्'—जो प्रत्यक्ष है, परोक्ष और अपरोक्ष है—'सर्वं इदम्।' इदम्का अर्थ है यह—आपके मनमें एक स्वर्गकी कल्पना आयी कि यह स्वर्ग है। वैकुण्ठकी कल्पना आयी कि यह वैकुण्ठ है, यह साकार है, यह निराकार है, यह घट है आदि।

घट पटादि प्रत्यक्ष है और इदं है, स्वर्गादि परोक्ष हैं और इदं हैं। वैसे ही काम क्रोधादि अपरोक्ष होकर इदं हैं। जगत्,

स्वप्न, सुषुप्ति भी अपरोक्ष है और इदं हैं। यह इदं क्या है ? मया आततं—यह जो कुछ तुम हो—इदं इदं मालूम पड़ता है यह सब मेरा विस्तार है—तनु विस्तारे-तन्वतेति। यह सब मेरा विस्तार है। इसमें तुम्हारा कोई शत्रु है न मित्र। इसमें न कोई जन्म है न मृत्यु। यह सब परमात्माका स्वरूप है। पापीको परमात्मा ही नरक रूपमें दीखता है और पुण्यात्माको वही स्वर्ग रूपमें दीखता है। परमात्मा ही भक्तको वैकुण्ठके रूपमें परिलक्षित होता है और जिसका मन राग-द्वेषसे भरा हुआ है उसे शत्रु-मित्रके रूपमें दिखायी पड़ता है। उसी एक परमात्माका यह सारा विस्तार है। उसको पहचानों—'नित देखो नित श्याममयी है।' जित देखौं उत श्याममयी है—

अपने हृदयसे पाप-पुण्य, स्वर्ग-नर्क, शत्रु-मित्रको एक क्षणके लिए हटाकर देखो। अब श्रद्धाकी इसमें आवश्यकता कहाँ है ? बोले, है! माँ प्रत्यक्ष दीखे तब भी उसमें श्रद्धा करनी पड़ती है। उड़िया बाबाने एक बात बतायी—एक वेश्या है और उसको एक बेटा है। यदि उसका बेटा श्रद्धापूर्वक अपनी माँकी भक्ति करे तो जैसे और पतिव्रताके पुत्रोंको मातृ-भक्तिका फल मिलता है, वैसे उस वेश्या-पुत्रको प्राप्त होगा या नहीं ? निश्चय ही मिलेगा, क्योंकि वह अपनी माँकी भक्ति करता है। मातृभक्ति करना पृथक् वस्तु है और वेश्या होना पृथक् वस्तु है।

'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव।' श्रद्धा अपने हृदयका धन है। लेकिन यदि हमको पेड़ दीख पड़ता है तो कैसे श्रद्धा करें ? बोले—हाँ, श्रद्धा करो—'अव्यक्तमूर्तिना। न व्यक्ता मूर्तिर्यस्य तेन मया—अव्यक्तमूर्तिना मया'—पेड़के रूपमें मैं ही हूँ, पर मैं दीखता नहीं, मेरी मूर्ति व्यक्त नहीं है। यदि कहा जाय कि हम लेबोरेटरीमें परीक्षण करेंगे कि इस पेड़में परमात्मा है कि नहीं, तो—'न व्यज्यति तेनातिप्रयोगेन....।'

हमारा जो स्वरूप है वह इन्द्रियगम्य होकर नहीं मालूम पड़ता वह श्रद्धा, भक्तिसे मालूम पड़ता है। स्वर्गपर श्रद्धा करोगे तो वह मरनेके वाद मिलेगा और यदि प्रत्यक्षपर श्रद्धा करोगे तो उसका इसी जीवनमें अनुभव हो जायेगा—'अव्यक्त-मूर्तिना-मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्वस्थितः। न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्। मत्स्थानि सर्वभूतानि—कैसी अद्भुत बात कही है। अलङ्कारकी दृष्टिसे विरोधाभास है और प्रहेलिका अलङ्कार भी है। 'मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं मत्स्थानि सर्वभूतानि।' यह विरोधाभास हो गया। एक बार कहते हैं कि यह सम्पूर्ण प्राणि-पदार्थ मुझमें हैं और एक बार कहते हैं मुझमें नहीं है। परमात्माको प्रकट करनेके लिए परस्पर विरुद्ध धर्मका निरूपण करना पड़ता है। जब वही सब है तो साकार भी है, निराकार भी है। सगुण भी है और निर्गुण भी है। आदि शङ्कराचार्यका कथन है—

सत्यं ज्ञानमनन्तं नित्यं निराकाशं परमाकाशं
मायाकल्पितं नानाकारमनाकारं भुवनाकारम्।

तुलसीदासजी कहते हैं—'निर्गुण सगुण नहीं कछु भेदा'। भीतर होना—बाहर होना, पास भी होना—दूर भी होना, हिलना भी और न हिलना—परमात्मामें ये सभी बातें विरोधी होकर भी ठीक-ठीक बैठ जाती हैं। ज्ञान-अज्ञान, राग-वैराग्य, धर्म-अधर्म, सुख-दुःख सब परमात्माके स्वरूपमें ही है। जिसने पहचान लिया उसके लिए संसारमें कोई दुविधा नहीं रहती। अगर ऐसा नहीं है तो वह हिचकेगा—यहाँ पाँव रखें कि न रखें। किन्तु जिसको ज्ञान हो गया कि सब परमात्मा है, वह निर्द्वन्द्व होकर व्यवहार करता है। श्रुतिमें ऐसे प्राणीको जीवनमुक्त कहते हैं। उसे कहीं भी पाँव

रखनेमें दुविधा नहीं है। जैसे चिड़िया कहीं भी पाँव रखे वह आकाशमें होता है।

इसी प्रकार जो ब्रह्मको पहचान लेता है उसके आगे ब्रह्म है, पीछे ब्रह्म है, बायें ब्रह्म है, दाहिने ब्रह्म है उसके लिए सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म हो जाता है। हिचक-हिचककर चलनेके लिए परमात्माका ज्ञान नहीं है। कहा भी है—'जाके मनमें अटक है सोई अटक रहा।' 'ब्रह्मैववेद ब्रह्मैव भवति।' तो यह सम्पूर्ण विश्व-सृष्टि परमात्माका स्वरूप है, उसमें अटको मत, लटको मत। इसमें कोई खटका मत रखो--'निर्द्वन्द्वो नित्यसत्वस्थो........'।

हिचककर पाँव रखनेपर फिसलनेका डर रहता है। परमात्माको देखो और चलते जाओ। अपने हृदयमें परमात्मापर विश्वास हो, श्रद्धा हो और उसका अनुभव हो–'मत्स्थानि सर्वभूतानि'। भूत कहनेका एक अभिप्राय होता है पञ्चभूत--पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश और एक भूतका अर्थ होता है भौतिक, जिन पञ्चभूतोंसे यह दुनिया बनी है—वह सब।

एक और भूतकी बात आपको सुनाते हैं--कोई तान्त्रिक श्मशानमें मुर्देपर बैठकर कोई सिद्धि कर रहा था। उसने देखा कि कोई बारात आ रही है। बाजे-गाजे बज रहे हैं, बड़ा कोलाहल है। उसने सोचा कि मैं तो एकान्तमें साधना कर रहा था, यह क्या है? उसने अपनी साधना बन्द कर दी। परिणाम यह हुआ कि बारात, गाजे-बाजे और हो-हल्ला आया भी समाप्त भी हो गया। इसी प्रकार एक और घटना याद आती है—हमारे एक मित्र नर्मदाके पानीमें मचान बनाकर हनुमान्‌जीकी साधना कर रहे थे। उनको लगा कि नर्मदाका पानी बढ़ रहा है और मचान डूब रहा है और दो अजनबी प्राणी उन्हें पकड़नेके लिए

चले आ रहे हैं। मारे डरके वे नर्मदाके पानीमें कूद पड़े। देखा तो वहाँ केवल घुटने भर पानी था और वहाँ उनके अतिरिक्त कोई प्राणी नहीं था। यह सब क्या है? इसीको भूत कहते हैं—वह जो न हो और मालूम पड़े। यह भूतकी माया है।

'मत्स्थानि सर्वभूतानि'का अर्थ है—जो यह महास्मशान भगवान् शङ्करका दीखता है, यह सब परमात्माके अन्दर है। दूसरी बात जो कही—'न च मत्स्थानि भूतानि'—मुझमें कोई भूत नहीं।

आकाशमें हम देखते हैं—नीलिमा दिखायी देती है। यह नीलिमा दिखायी देती है। यह नीलिमा अपनेमें कुछ भा नहीं है। यह तो दृष्टिकी असमर्थता है। हम जहाँतक स्पष्ट देख पात हैं, उसके बाद नीलिमा दिखायी देती है। हमारी दृष्टि छोटा है। हम पूरे आकाशको नहीं देख पाते। इसका अर्थ है—अल्प दृष्टिसे नीलिमा है किन्तु पूर्ण दृष्टिसे नीलिमा नहीं है। भगवान्की दृष्टि पूर्ण है। इसीसे जब भगवान्से एक हो जाते हैं तब यह पंच प्रपंच नहीं दीखता और जब अल्पसे एक रहते हैं—देहाभिमान रहता है तबतक प्रपंच दीखता है। देहाभिमान छूटनेपर परमात्मासे एक हो जाते हैं तब प्रपंच नहीं दीखता।

मत्स्थानि सर्वभूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥

सब मुझमें हैं, परन्तु मैं उनमें हूँ, ऐसी बात नहीं है। इसको आधार आधेय भाव बोलते हैं। परमात्मा किसीको आधार बनाकर उसमें नहीं रहता सबका आधार परमात्मा है। श्रीरामानुजा-

चार्यजी आधार-आधेयकी बात कहते हैं। श्रीमध्वाचार्यजी स्वतन्त्र अस्वतन्त्रकी बात कहते हैं—सबकी सत्ता मेरे अधीन है किन्तु मेरी सत्ता किसीके अधीन नहीं है। आकाशमें घड़ा रहता है किन्तु आकाशको अपने अन्दर रखकर नहीं ढोता। जल अथवा मिट्टीकी तरह आकाश घड़ेमें नहीं बँधता। आकाशमें घड़ा बँधता है। जैसे घड़ेके भीतर आकाश है वैसे ही घड़ेके बाहर आकाश है। जहाँ घड़ेकी दीवार है वहाँ भी वैसा ही है। घड़ेके टूटनेसे आकाशका कुछ बनता बिगड़ता नहीं। आकाश आधार है और घड़ा आधेय है। परन्तु घड़ेमें आधेय रूपसे रखी जानेवाली वस्तुकी तरह आकाश नहीं रखा जा सकता। 'मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ?' भगवान्में सब हैं किन्तु भगवान् किसीके अन्दर रहते हैं अर्थात् भगवान्से भी कोई बड़ा है, ऐसा नहीं है। भगवान् किसीमें रखे नहीं जाते। भगवान्में हृदय बनता है। हृदय जिन तत्त्वोंसे बनता है वह परमात्मा है। किन्तु हृदयमें परमात्मा आबद्ध हो गया, सो बात नहीं है। हृदय बनता है, बिगड़ता है। बुद्धि बनती है, बिगड़ती है। बुद्धि पापी, पुण्यात्मा होती है, दुःख-सुखका अनुभव करती है, बुद्धि जन्म-जन्मान्तरमें आती-जाती है किन्तु वह जिस उपादानसे निर्मित है वह चेतन है, परमात्मा है।

यह जड़वादका सिद्धान्त नहीं है—यह चेतनात्-आत्मा है। 'मत्स्थानि सर्वभूतानि........' यही ऐश्वर्य योग है। भगवान् कृष्ण अर्जुनसे बोलते हैं—'मया ततमिदं सर्वं जगत् इति पश्य'—देखो सम्पूर्ण जगत्के रूपमें मैं ही फैला हूँ। 'मत्स्थानि सर्वभूतानि'—सारे प्राणी मुझमें हैं। 'न चाहं तेष्ववस्थितः'—उनमें जो परिवर्तन है—उनके साथ मेरा परिवर्तन, विनाश नहीं है—मेरे अन्दर कुछ भी नहीं है।

अर्जुन कहते हैं—महाराज, तुम्हीं हो, ठीक है। तुम बोलते हो—मैं ही हूँ, मैं ही हूँ, परन्तु हमको यह क्या गड़बड़झाला दीख रहा है। भगवान् बोले—'मम ऐश्वर्यं योगं पश्य ?' यही ईश्वरता है। यह ईश्वरीय योग है, जो नहीं है उसे यह दिखा देते हैं। यह भगवान्‌की माया है। जैसे आदू या इन्द्रजाल होता है। यह वस्तुमें परिवर्तन करके भी होता है और आँख बाँधकर भी होता है। जादू दिखाते समय वस्तुमें हेर-फेर हो जाता है और नेत्रका दृष्टिकोण बदल जाता है। जादूगरकी शक्ति वस्तुके दर्शनमें अवरोध पैदा करती है। मुट्ठीमें बँधा रुपया जेबमें पाया जाता है, इसीको माया कहते हैं। जो बात दुनियामें सामान्यरूपसे नहीं होती माया उसे करके दिखा देती है। श्रीकृष्ण कहते हैं—'पश्य मे योगमैश्वरम्' यह देखो, जादूका खेल, मुझमें सब कुछ है, मुझमें नहीं है, मैं किसीमें नहीं हूँ—'भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः।'

ऐसे ही परमात्मा सबको धारण करता है, सबको परिपुष्ट करता है। वह किसी देश-विशेषमें नहीं है। कहते हैं—'ममात्मा भूतभावनः ?' यह सब मेरा सङ्कल्प है, मेरा मन है। जैसे सङ्कल्पकी वस्तु मुझसे अलग नहीं होती। यदि हम अपने मनमें देखें कि हाथी है तो जबतक हाथी देखना चाहें, हाथी रहेगा और और देखनेकी इच्छा मिट गयी तो हाथी नहीं रहा—उसी प्रकार भगवान् द्वारा सङ्कल्पित वस्तु भगवान्‌से बाहर नहीं है, उनके हृदयमें है। अतः सङ्कल्पित वस्तु भी भगवान्‌से भिन्न नहीं है।

यहाँ यह ध्यान देनेकी बाद है कि सङ्कल्पित वस्तु सावधिक होती है किन्तु भगवान् निरवधिक हैं। अतः निरवधिकमें जो सावधिक वस्तु होती है उसका विस्तार होता है। उसमें एक गज, दो गज जैसा देश नहीं होता, इक किलो दो किलो जैसा वजन

नहीं होता। उसमें स्थान अथवा समय भी नहीं होता। सङ्कल्प ही उसका देश, वजन, स्थान, समय आदि हैं। परमात्माके अनन्त अनादि स्वरूपमें वह सङ्कल्पमात्र है—'भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः।' मेरा आत्मा, मेरा मन, यह सब मेरे सङ्कल्पसे सृष्टि उत्पन्न होती है।

यह जो मेरा सङ्कल्प है वही प्राणियोंको दीखता है। मेरा सङ्कल्प ही प्राणियोंका पालन एवं संहार करता है। यह मुझमें है भी और नहीं भी है। गीताके नवें अध्यायमें भगवान्‌की विशेषताका वर्णन है। भक्तका स्वरूप, भक्तिका स्वरूप और भजनीय—जिनकी हम भक्ति करते हैं उनका स्वरूप। और ये भगवान् तो सब समय हैं। समय ही भगवान्‌का सङ्कल्प है। सृष्टि भी भगवान्‌का सङ्कल्प है। अब भजनीय भी हमारा कहाँ? ऐसा भजनीय आपको किसी दूसरे मजहबमें नहीं मिलेगा।

'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि'—स्त्री भी तुम हो, पुरुष भी तुम हो। 'त्वम्' कुमार उत कुमारी—कुमार भी तुम हो, कुमारी भी तुम्हीं हो। 'जातो भवति विश्वतोमुखः' सम्पूर्ण विश्वके रूपमें परमेश्वर है। 'वृद्धो जीर्णो दण्डेन वंचसि'—बड़े बाबा बनकर लकड़ी टेकते हुए तुम्हीं हो। इसका मतलब हुआ, हर कदममें परमात्मा है। हर चीजमें, हर प्राणीमें, हर भावमें परमात्मा है। हम परमात्मामें ही डूब-उतरा रहे हैं, सोच-समझ रहे है—बैठ-उठ रहे हैं। इसमें यदि आप राग-द्वेष करते हैं तो परमात्मासे हमें कोई पक्षपात या क्रूरता करनेके लिए कहीं भी स्थान नहीं है क्योंकि परमात्माका सब स्वरूप है। यह हमारे हृदयसे राग-द्वेषको सर्वथा उखाड़कर फेंक देनेवाली विद्या है।

•

प्रवचन : ३

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥
सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥
न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥
अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥
महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥
(९.६-१३)

'यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्'—भगवान् श्रीकृष्ण यह बात सुनाते हैं कि ये सारा प्राणिवर्ग और पदार्थ सब

मुझमें कैसे स्थित है और कैसे नहीं स्थित है। दृष्टान्त एक है और इसके द्वारा प्रतिपाद्य दो पदार्थ हैं। 'मत्स्थानि सर्वभूतानि' और 'न च मत्स्थानि भूतानि'। 'भवन्ति इति भूतानि'। जो भी पैदा होता है उसका नाम भूत। जो पैदा होता है वह पैदा होनेसे पहले नहीं रहता है और जो पैदा होता है वह मर जाता है, बादमें नहीं रहता है। प्रत्येक उत्पन्न होनेवाले पदार्थके साथ पहले और पीछे न होना लगा रहता है। जैसे माँ-बाप पहले होते हैं। और बच्चे बादमें पैदा होते हैं। परन्तु माँ-बाप बादमें रहें यह नियम नहीं रहता है। परन्तु ईश्वर पहले भी रहता है और बाद में भी रहता है। यह उसका नियम है। ईश्वर अनादि और अनन्त है।

एक बातपर आप विचार करो कि जिसका अन्त ही न हो और जिसकी आदि भी न हो ऐसा पदार्थ अनुभवका विषय कैसे हो सकता है? इसके लिए बड़ा स्पष्ट दृष्टान्त है। हमारे जीवनमें अनेक पदार्थोंका आदि होता है और अनेक पदार्थोंका अन्त भी होता है। कितने आते हैं, कितने जाते हैं, कितने मिलते हैं, कितने बिछुड़ते हैं, किन्तु हमारा आत्मा एक ही रहता है। पैदा होनेके पहले मरनेके पहले, मिलनेके पहले, बिछुड़नेके पहले यह-यह जितना है वह तो आता-जाता रहता है परन्तु आत्मा आदि-अन्तका विषय नहीं है। मैं कब हुआ यह कोई नहीं जान सकता और मैं कब नहीं रहूँगा, किसीके अनुभवके क्षेत्रमें नहीं है। जब हम पहलेके हों तब जन्मका अनुभव कर सकते हैं कि जन्म हुआ और यदि बादमें भी रहें तो मृत्युका अनुभव कर सकते हैं। इसलिए अपने जन्मका और अपनी मृत्युका अनुभव कभी किसीको नहीं हो सकता। यह अनुभवके क्षेत्रसे अतीत पदार्थ है। ऐसा कोई न हुआ, न होगा जो अपनी मौतको स्वयं देख सके। यदि

देखता है तो वह है और या तो मरा नहीं और यदि अपना जन्म देखता है तो जन्मसे पहले रहकर जन्म देखता है—उसका जन्म ही नहीं हुआ। इसलिए जन्म और मृत्यु ये दोनों अनुभवके क्षेत्रमें नहीं हैं।

हमारा आध्यात्मिक ज्ञान-विज्ञान बताता है कि आत्माका जन्म और मरण नहीं होता और जिसका जन्म मरण होता है वे भूत हैं। माने मिट्टी है, पानी है, आग है इनके बने हुए पदार्थं हैं, भौतिक मिट्टी कल नहीं थी या पानी कल नहीं था यह भी प्रत्यक्षका विषय नहीं है। यह अनुमानका विषय है। केवल हम अनुमान लगाते हैं कि प्रत्येक वस्तु बदलती है तो बदलनेवाली वस्तुका कभी जन्म हुआ होगा और कभी मृत्यु हुई होगी। और धर्म, अधर्म, पुनर्जन्म, नरक, स्वर्ग ये अनुभवी जो महापुरुष हैं उनके वाक्यसे इनका ज्ञान होता है। परन्तु ज्ञान होता है परोक्ष-तत्काल और यह आत्मा जो है उसका अपरोक्ष ज्ञान होता है। जो जागृतको जाननेवाला है; सुषुप्तिको जाननेवाला है—यह साक्षात् है, अभी है।

ज्ञानकी चार प्रक्रिया होती है एक तो वस्तुओंका प्रत्यक्ष ज्ञान जैसे स्त्री है, पुरुष है आदि दूसरा परोक्ष ज्ञान जैसे नरक है स्वर्ग है, पुनर्जन्म है। और तीसरा अपरोक्ष ज्ञान होता है जैसे जागृत है, स्वप्न है, सुषुप्ति है, काम है, क्रोध है, लोभ है, मोह है। ये स्वर्गके समान परोक्ष भी नहीं होते और घट-पटादिके समान प्रत्यक्ष भी नहीं होते। ये जितनी देर मालूम पड़ते हैं, उतनी देर होते हैं। और जितनी देर होते हैं, उतनी देर मालूम पड़ते हैं। परन्तु आत्मा जो है इसका स्वरूप न घड़ा, कपड़ा, मेज, कुर्सीके समान प्रत्यक्ष है न स्वर्ग-नरकके समान परोक्ष है और न आने-जानेवाले काम-क्रोधादिके समान अपरोक्ष है—यह

तो साक्षात् अपरोक्ष है क्योंकि कभी किसीका 'मैं' नहीं हो सकता।

आत्मा अविनाशी है। जिसके अभावका कभी अनुभव न हो उसीको अविनाशी बोलते हैं। यह बहुत उपयोगी ज्ञान है। मरनेके डरसे हम इतना घवड़ाते हैं। यह हमारे जीवनमें भय समाया हुआ है। मृत्युके भयसे मुक्त करनेवाला यह ज्ञान है। आप इसको बहुत आसानीसे, अनायास समझ सकते हैं कि मुझे अपने मरनेका अनुभव कभी होगा ही नहीं! आजतक कभी हुआ नहीं है।

यदि कभी भी यह अनुभव हुआ होता कि मैं मर गया तो आज हम कैसे होते? अतः उसकी हम केवल कल्पना करते हैं, इस शरीरको मैं मानकर। आप सोना हैं कि आभूषण? आभूषण हैं तो टूटेंगे, फूटेंगे। और यदि सोना हैं तो कभी टूटेंगे फूटेंगे नहीं। ये सोनेकी शकल बदलती है। कभी वह पिघल हुआ द्रव हो जाता है, कभी वह चूरा हो जाता है, कभी वह सिल्ली हो जाता है, कभी वह आभूषण बन जाता है। शकल सूरत बनती बिगड़ती है किन्तु जो तत्त्व है 'अनारोपिताकारं'। तत्त्व किसको कहते हैं? जिसमें शकल सूरतकी कल्पना न की गयी हो—कल्पना माने सचमुचमें जानना होता है। शकल सूरत न गढ़ी हुई हो जिसमें और चीज हो, उसको बोलते हैं 'तत्त्व'। आप वह तत्त्व हैं जिसमें शकल सूरत बहुत सी गढ़ी गयी है, गढ़ी जा रही है और गढी जायगो। आपका बचपन उसमें गढ़ा गया जवानी उसमें गढ़ी गयी—बुढ़ापा उसमें गढ़ा जाता है—शरीरका छूटना, आना उसमें गढ़ा जाता है और आप बिलकुल अविनाशी रहते हैं।

पहली बात ध्यानमें रखनेकी है कि आप अपने कर्तव्यके पालनमें मृत्युका भय न रखें। आप मौतसे डर-डरके कोई काम

न करें। आप अविनाशी हैं और अविनश्वर दृष्टिसे काम करें। यह इसका इलाज है। हनुमानप्रसादजी पोद्दारने गांधीजीको एक चिट्ठी लिखी है कि हमारे मित्रको स्वप्न आया है कि 'आपकी मृत्यु निकट है। आप भगवान्का भजन कीजिये।' इसके उत्तरमें महात्मा गांधीने लिखा है—आपने भगवान्का भजन करनेके लिए लिखा है वह तो ठीक है। राम-राम तो हमारी खुराक है। उसके विना तो हम जी ही नहीं सकते हैं। मृत्युसे डरकर हम भगवान्का नाम लें यह बात हमको नहीं जँची। तात्पर्य यह कि आप अपने जीवनमें यह सोचकर मत डरिये कि हमारी मौत होनेवाली है—
'पलटू तुम मरते नहीं साधू करो विचार।'

आकाशमें वायु है और वह जाता-आता है। आकाशसे बाहर वायुकी गति नहीं है। और आकाशसे बाहर क्या है? यदि हम हैं सो तो ठीक है, हमारे सिवाय और कुछ आकाशसे बाहर है तो केवल कल्पना है, उसका अनुभव नहीं हो सकता। आकाशके भी दो रूप हैं। एक वायुकी कारणता जिसमें वायु उत्पन्न होता है और एक केवल शुद्ध अवकाशात्मक। जो शुद्ध अवकाशात्मक है वह तो सद्वस्तुसे अभिन्न है और जो कारण-रूप आकाश है उसमें माया मिली हुई है। क्योंकि वायुके घूमनेसे ही उसकी सिद्धि होती है। हमारे पूर्व मीमांसकोंने आकाशको प्रत्यक्ष माना है। कहते हैं कि चिड़िया जहाँ उड़ रही है वह प्रत्यक्ष बीत रहा है। इसलिए आकाश भी प्रत्यक्ष है। परन्तु चिड़ियाका उड़ना एक औपाधिक पदार्थ है, उसके द्वारा आधारका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। वेदान्तियोंने उसका खण्डन किया।

अब आपको यह बात सुनाते हैं कि आकाशमें वायु झूला झूलता है—दाहिने-बायें, ऊपर, नीचे तिर्यक् गति है। वायुकी गति टेढ़ी है। वह लहराता हुआ चलता है। कभी चलता है,

कभी नहीं भी चलता। परन्तु आकाश ज्यों-का-त्यों है। आकाश निराकार है, उसमें गति नहीं है। चलना-फिरना आकाशमें नहीं है। आकाशकी गोदमें वायु है। 'मत्स्थानि सर्वभूतानि'—आकाश निराकार है, निर्विकार है, सम है, जरा उसके साथ चेतन जोड़ दो तो और मजा आजायेगा। वह आकाश नहीं चिदाकाश है। चेतन आकाश है। जड़ आकाश है, उसमें स्थितिसे गति उत्पन्न होती है, वायु उत्पन्न होता है। परन्तु जो चिदाकाश रूप परब्रह्म परमात्मा है वह चेतन कभी उत्पन्न हो नहीं सकता। और उत्पत्तिका कारण भी उसमें नहीं हो सकता। अद्भुत लीला है। उसीमें यह वायु झूला झूल रहा है—लहरा रहा है! कभी कभी नहीं भी लहराता है। आधार होना आकाशका लक्षण है और गतिशील होना वायुका लक्षण है। ऊष्म गरम होना यह अग्निका लक्षण है—तेजस्विता उसका लक्षण है—रूपको प्रकाशित करता है। और द्रव होना, शीतस्पर्श होना यह जलका लक्षण है। ठोस धरती है, गला हुआ पानी है, गरमी अग्नि है और गति वायु है—और इन सबका आधार आकाश। ये सब आकाश में इतना उपद्रव करते हैं--वायु तो दौड़-धूप रहा है और आग जल रही है, पानी बह रहा है, धरती परिक्रमा कर रही है। परन्तु आकाश ज्यों-का-त्यों। इसका अर्थ हुआ कि चार भूतोंसे बने हुए जितने भी पदार्थ हैं वे सब आकाशमें रह रहे हैं।

यह तो हो गया 'सर्वभूतानि'। अब दूसरी बात देखो। क्या आकाश जितना बड़ा है, उतनी बड़ी वायु है, उतनी बड़ी अग्नि है, उतना बड़ा जल है? उतनी बड़ी पृथिवी है? नहीं--इनका आयतन छोटा है। आकाशका आयतन बड़ा है। जिसका स्थान अधिक हो बोलेंगे अधिष्ठान। वायुकी अपेक्षा अधिक स्थान है आकाशका। अग्निकी अपेक्षा भी, जलकी अपेक्षा भी, पृथिवीकी

अपेक्षा भी वल्कि यहाँतक कि जब एक चीज हिलती-डोलती है तो आकाशसे उसका सम्बन्ध होना कठिन है। आकाश ज्यों-का-त्यों—एक चीज चल रही है। चलनेका भाव भी और चलनेका अभाव भी--दोनों आकाशमें है। वेदान्तियोंकी बात आगयी यहाँ--क्या आ गयी ?

वेदान्तमें बिलकुल न होनेका नाम मिथ्या नहीं है। जो हमारी इन्द्रियोंको मालूम पड़े और तत्त्वदृष्टिसे अलग न हो उसको वेदान्ती लोग मिथ्या बोलते हैं। तत्त्वदृष्टिसे वह वस्तु कहीं उससे सिद्ध नहीं होती। उसका अभाव भी उसीमें है और हमारी इन्द्रियोंकी दृष्टिसे मालूम पड़ती है। उसको सत्य नहीं कह सकते क्योंकि तत्त्वमें नहीं है और उसको असत्य भी नहीं कह सकते क्योंकि हमको दीख रही है। इसलिए सत्य-असत्य दोनोंको मिलाकर मिथ्या शब्दका प्रयोग होता है। घोड़ा अलग है, गधा अलग है। परन्तु दोनोंका मिश्रण खच्चर है। सत्य अलग है, असत्य अलग है। परन्तु दोनोंका जो मिथुनीभाव है, दोनोंका जो मिश्रण है—उसको मिथ्या बोलते हैं। यह है मिथ्याका अर्थ !

जबतक हम देहको मैं समझकर इन्हीं इन्द्रियोंके द्वारा संसारको देखते हैं तबतक वह सत्य है और जब इस देहमें-से अभिमान निकल जाता है और परमात्मासे हम एक हो जाते हैं तब यह सृष्टि असत्य दीखने लगती है। असत्य माने न होना नहीं—जैसे आप असत्य भाषण करते हैं—कोई-कोई होंगे ऐसे जो असत्य भाषण नहीं करते होंगे। एक दिन बच्चोंने आपसमें शर्त लगायी कि जो सबसे बड़ा झूठ बोले वह इस कुत्तेको ले जाय। वे एक-दूसरेसे बढ़-बढ़कर झूठ बोल रहे थे। इसी बीच उनके बाप आ गये और बोले कि हमने तो अपने जीवनमें कभी असत्य बोला ही नहीं और तुमलोग असत्य बोलनेकी होड़ लगा रहे हो ? बच्चोंने हाथ जोड़ लिये कि बापजी

इससे बड़ा कोई झूठ नहीं हो सकता—इसलिए आप इस कुत्तेको स्वयं ले जाओ !

असत्य भाषणका अर्थ यह नहीं है कि भाषण है ही नहीं। इसी प्रकार प्रपंचके मिथ्यात्वका जो वेदान्ती लोग वर्णन करते हैं—उसका अर्थ यह नहीं है कि हमारी आँखसे दुनिया नहीं दिखती है या हमारी जीभसे वाणी नहीं निकलती है या कानसे सुनायी नहीं पड़ता है। अरे, कोई जब तुम्हारा शरीर है तो सारी दुनिया भी है। अपनेको शरीर मानकर यदि कोई वेदान्ती प्रपञ्चको मिथ्या बोलता है तो वह बिलकुल झूठ है।

हमारी ऐन्द्रियक दृष्टिसे—वायु आकाशमें घूमता है, परन्तु आकाश तो निरंश है। जिसमें अंश ही नहीं है, उसके कितने अंशमें वायु होगा ! अच्छा आकाशसे पूछो कि हे आकाश, आपमें वायुका वजन कितना है ? उमर कितनी है ? तो आकाशकी दृष्टिसे न वायुका वजन है, न उसके रहनेकी जगह है और न उम्र है। इसलिए आकाशकी दृष्टिसे वायु नहीं है और यदि हम इन्द्रियोंकी दृष्टिसे देखें तो हमारे शरीरमें आकर जो गुदगुदाता है, उसका नाम वायु है—जो हमारी सांसके रूपमें बाहर-भीतर आया-जाया करता है, उसका नाम वायु है और जो तिनकेको उड़ाकर ले जाता है, जो गरमीको शान्त करता है उसका नाम वायु है। तो व्यावहारिक दृष्टिसे वायु सत्य है और परमार्थ दृष्टिसे वायु असत्य है और दोनोंके मिश्रणका नाम हो जाता है 'मिथ्या'।

'मत्स्थानि सर्वभूतानि' इसका उदाहरण है कि आकाशमें वायु है और आकाशकी दृष्टिसे आकाशमें वायु नहीं है। यह चिदाकाश है, चेतनाकाश है। तथा 'सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय।' वैसे ही ये जितने भूतप्राणी हैं वे सब मुझमें हैं और मुझमें नहीं हैं। इसीसे भावाभाव दोनों होता है।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥

यह कल्पकी आदि है। कल्प एक कालका नाम है। परन्तु असलमें वह संकल्पका ही कल्प है। भगवान्‌के संकल्पका नाम काल है। 'कल्प'के साथ 'सं' जुड़ गया सो 'संकल्प' हो गया। ईश्वर दृष्टिसे ईश्वरके संकल्पके सिवाय और कालका नाम पदार्थ नहीं है। वेदान्तकी दृष्टिसे आत्मामें जो अपनी ब्रह्मताका अज्ञान है, उस अज्ञानकी वृत्तिके सिवाय काल और कुछ नहीं। माने तत्-पदार्थकी दृष्टिसे तत्-पदवाच्यार्थका संकल्प है काल और त्वं-पदार्थकी दृष्टिसे इसमें जो ब्रह्मपनेका अज्ञान है, उस अज्ञानकी एक वृत्ति है काल।

नैयायिक और जैन लोग कालको द्रव्य मानते हैं। मीमांसक भी कालको द्रव्य मानते हैं। सांख्यमें महत् तत्त्वकी एक वृत्ति है काल। भूत, भविष्य, वर्तमान—सब, यह जो सृष्टिकाल है उसको कल्पकी आदि बोलते हैं और जो संहारकाल है उसको कल्पका अन्त बोलते हैं। भगवान् बोलते हैं कि यह जो सृष्टिका प्रवाह मुझमें बह रहा है इनका आवागमन होता है। ये कभी बनते हैं, कभी बिगड़ते हैं—कभी इनकी सृष्टि होती है और कभी प्रलय होता है। इसमें एक रहस्य है। मनुष्यको आकाशके समान निर्लेप रहना चाहिए। दुनियाकी किसी चीजको सच्ची समझकर उसमें फँस नहीं जाना चाहिए। आकाश सुगन्धित वायुसे, दुर्गन्धित वायुसे, शान्त वायुसे, विक्षिप्त वायुसे कभी अपनेको जोड़ता नहीं है। ऐसे—जीवन मनुष्यका कैसे रहे कि सृष्टि होवे, प्रलय होवे, आवे, जाय, रहे, न रहे अपने स्वरूपको न छोड़े।

दूसरी बात यह बतायी कि जो ज्ञानी है उसके लिए तो यह विक्षेपका विषय नहीं है और जो अज्ञानी है उसके लिए यह

डा. डिल्ली रमण रेग्मी
कल्याणी रेग्मी स्मारक
पुस्तकालय- 692

विक्षेपका विषय है। यह बात कैसे बतायी—'सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्'—कल्पक्षये—जब हम अपने संकल्पको शान्त कर देते हैं—सब ये सारे पदार्थ, सारे प्राणी मेरी प्रकृतिमें आकर लीन हो जाते हैं और जब कल्प संकल्पमें प्रारम्भ करता हूँ तो फिर सृष्टि हो जाती है। अनेकसे एककी ओर सृष्टिका जाना प्रलय है और एकसे अनेककी ओर बिखरना सृष्टि है। संकल्पका विक्षेप सृष्टि है और संकल्पका संहार ही प्रलय है। जैसे 'बीज और वृक्ष होता है जैसे प्रलय कालमें बीज शेष रहता है और सृष्टि कालमें वृक्ष हो जाता है। यदि केवल लय होनेसे परमात्माके साथ एक हो जाते हों तो अज्ञानकी भी मुक्ति हो जाये और यदि परमात्माके संकल्पसे ही सृष्टि बनती हो तो ज्ञानीका भी पुनर्जन्म होना चाहिए। प्रलय कालमें ज्ञानी भी बीजमें चले गये और सृष्टि कालमें निकल आये। और प्रलय कालमें अज्ञानी भी बीजमें चले गये।

बीजमें जानेसे और बीजमें निकलनेसे मुक्तिका कोई सम्बन्ध नहीं है। जीना-मरना अथवा सृष्टि और प्रलयका मुक्तिके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। ये सब भगवान्की प्रकृति है, आदत है। अपने शरीरको जैसे नट अनेक रूपमें कर लेता है वैसे यह भगवान्का क्रिया कलाप है, लीला है। जैसे एक आदमी कभी सोना पसन्द करता है, कभी अकेला (कैवल्य माने अकेला'—हिन्दीमें अकेला शब्द केवल शब्दसे ही आया है। केवल व को पहले करके 'अ' बोल दो—अकेला हो गया) जब कभी मनुष्यको कुछ नहीं चाहिए—वह अपने पुत्रसे भी कह देता है—इस समय हमको विक्षिप्त उद्विग्न मत करो—शान्त रहने दो सो ऐसा भगवान्का भी स्वभाव है। और कभी उसका मन होता है कि बच्चोंके साथ खेलं, पत्नीके साथ हँसी खेल करे—अपने व्यापार क्षेत्रमें जाकर

व्यापार करें—तो भगवान् थोड़ा मूडी है। यह उसका मूड ही है जो सृष्टि बनाता है और सृष्टि बिगाड़ता है—अपने आपको जरा सा हिला देता है, सृष्टि बन जाती है। अपने आपको शान्त कर लेना है—प्रलय हो जाता है।

वाचस्पति मिश्रने लिखा है—ईश्वर सोया है—तो हमलोगोंकी साँस घड़घड़ाती है, वैसे उसकी साँस घड़घड़ायी और उसमें-से वेद निकले। जबतक वेद है तबतक ईश्वर जीवित है और ईश्वर चूँकि हमेशा जीवित है इसलिए वेद भी हमेशा जीवित है। केवल अपनी नाककी घड़घड़ाहट सुनकर ईश्वरकी आँख खुल गयी। नींदमें थे ही अपनी आँखोंका खेल देखकर मुसकान चेहरेपर खेल गयी सो स्त्री, पुरुष, बाल-बच्चे सब उसमें बन गये। फिर आँख बन्द कर ली और फिर सो गये। बोले, बस प्रलय! यह सब लीला कैवल्य ईश्वरका है। वह कभी अकेला सोना चाहता है तो प्रलय और कभी खेल देखना चाहता है जो सृष्टि, परन्तु यह उसकी प्रकृति है। प्रकृति माने प्रकृष्ट कृति उत्तम रचना। वेदमें तो ऐसे भी लिखा है कि एक दिन ईश्वरके मनमें आया कि कुछ गायें। जो वह कविता गाने लगा—उस काव्यका अर्थ सृष्टि बनता गया और संगीत उसमें रस भरता गया। 'पश्य देवस्य काव्यम्', इसका मतलब यह है कि किसी सामग्रीकी अपेक्षा ईश्वरको सृष्टि बनानेके लिए नहीं होती है—यह खेल है, उसकी एक लीला है, एक रंगमञ्च है और यह उसका अभिनय है। प्रलयके समय सब उसकी प्रकृतिमें मिल गये और सृष्टिके समय सब-के-सब निकल आये।

> प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
> भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥

यह प्रकृति है, आदतकी लाचारी है, यह सहज स्वभाव है कि यह सारी सृष्टि पराधीन होकर प्रकट होती है। कभी भगवान् नयी-

नयी सृष्टि दिखा देते हैं और कभी नयी-नयी सृष्टि समेट लेते हैं। यह उनका खेल है। कबड्डी खेलनेमें—खेलनेवाले मर जाते हैं और जाकर अलग बैठते हैं। वह सचमुच मरता नहीं है जिन्दा ही है। इसी प्रकार भगवान्‌की सृष्टिके खेलमें जो मरता है वह कभी मरता नहीं जिन्दा ही रहता है। यह भगवान्‌की लीला है—एक पार्ट मिलता है और एक पार्ट छूटता है—इतना ही है—यह अभिनय है, रंगमञ्च है। यही नियति कर दी गयी है। अब भगवान्‌ने अपना किसलिए बनाया क्यों बनाया? जो चीज हमारे कामकी नहीं हो उसको बोलनेकी तकलीफ भगवान् क्यों उठावेंगे? स्वयं तो जानते हैं परन्तु बोलेंगे क्यों? बोलेंगे इसलिए कि हमारे किसी कामकी वह बात होगी! इसीसे हमारे पूर्वमीमांसकोंने तो ऐसा माना है कि वेदके जिस मन्त्रसे हमारे लिए कोई मन्तव्य नहीं निकलता है वह निरर्थक है।

'आम्नायस्य'—वेद हमारे कर्तव्यका उपदेश करनेके लिए है—इसलिए वेदके जिस वचनसे हमारा कोई कर्तव्य नहीं निकलता वह निरर्थक है। ऐसा बोलते हैं कि ये हमारे कर्तव्यकी प्रशंसा करनेके लिए है। और है हमारे लिए तो बोले—भगवान् अपना स्वरूप बनाते हैं—'न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय'। आप सृष्टि बनाइये और सृष्टि बिगाड़िये। लेकिन सृष्टि बनानेके साथ आप मत बन जाइये। सृष्टि बिगाड़िये परन्तु आप बिगड़िये मत। आपकी भी तो सृष्टि है न! आप जो काम करते हैं, उस कामके साथ आप अपना बनना बिगड़ना मत जोड़िये। आप अलग रहिये। वहाँ हाथ डालिये जहाँसे आप खींच सकें। ये हमको किसीने बताया था। आजकलके व्यापारकी तो दूसरी गति है। हमको चालीस बरस पहले एक व्यापारीने बताया था कि हम महाराज व्यापार करते हैं तो सारी पूँजी नहीं लगाते हैं

व्यापार न चले तो हम अपनेको तो बचा सकें न! अब तो लोग बताते हैं कि व्यापारमें लोग अपना पैसा बहुत कम लगाते हैं, दूसरोंका ही लगाते हैं—चाहे आवे चाहे न आवे।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥

भगवान् कहते हैं—मैं सृष्टि बनाता हूँ और बिगाड़ता हूँ लेकिन हमारा हाथ मैला नहीं होता।

'निबध्नन्ति धनञ्जय'—ऐसी एक असंगताका लेप चढ़ा लो। इसका मतलब दलबदलू नहीं है कि जो दल हारने लगे उसको बदल लो। भगवान्ने अपना बताया। 'न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय'। हे धनञ्जय—धनञ्जय शब्दकी वैसे संज्ञा जो है वह अग्निके लिए है। धनञ्जय अग्निका नाम है। तुम अग्नि स्वरूप हो। ये पास-पड़ोसकी वस्तुएँ—जिनको तुमने अपने साथ जोड़ रखा है, इनके साथ रहो मत।

धनञ्जय शब्दकी एक संज्ञा तो है धनञ्जय अग्निकी और दूसरी संज्ञा है धनञ्जय प्राणकी। प्राणके दस विभाग होते हैं। प्राण, अपान, उदान आदि उनमें-से जो एक सूक्ष्म प्राण है—उसका नाम धनञ्जय है और वह मुर्देमें भी रहता है। यदि मुर्दमें वह प्राण नहीं रहे तो शरीरके जो अवयव हैं, वे चिपके न रहें आपसमें। वे भी बिखर जायेंगे। शरीरके अवयवोंको चिपका हुआ रहनेके लिए धनञ्जय होता है। इस प्राणके न रहनेसे भी रहता है, अपानके न रहनेसे भी रहता है—उदान-व्यान-समानके न रहनेसे भी रहता है। सर्वव्यापी धनञ्जय वह व्यापक प्राण है। वह वायुसे एक होकर रहता है। तुम धनञ्जय हो। तुम यह समझते

हो कि हम जो कर्म करेंगे वे मेरे साथ जुड़ जायेंगे। नहीं—ये कर्म तुम्हारे साथ जुड़ेंगे नहीं—तुम अपने स्वरूपको पहचानो।

उसने तो अपनी बात बता दी—मथुरामें पैदा हुआ उसको छोड़ दिया। गोकुलमें खेला, उसको छोड़ दिया और वृन्दावनमें नाटक किया था उसको भी छोड़ दिया और मथुरामें राज्यकी स्थापना की उग्रसेनके लिए, उसको भी छोड़ दिया। द्वारकामें इतनी लीला की, उसको भी समुद्रमें डुबा दिया। समुद्रमें डूब गयी द्वारिका!

तो यह श्रीकृष्णके लिए बनाना और बिगाड़ना बड़ी बात नहीं है। आप कोई भी काम कीजिये खेलकी तरह कीजिये—हमलोगोंने बचपनमें कितने हाथी, कितने घोड़े, कितनी स्त्री, कितने पुरुष गाँवमें मिट्टीसे बनाते थे और तोड़ते थे। एक सेठके घरमें देखा तो उनके लड़के मोमसे, आटेसे खिलौना बनाते थे। एक खिलौना बनाते, उसको देखते फिर बिगाड़ देते। आप लोगोंने भी जरूर किया होगा क्योंकि यह बचपनका स्वभाव है।

यह भगवान्‌की खास जिम्मेदारी नहीं है, वे वैसे ही बनाते-बिगाड़ते रहते हैं। 'न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय'—अपने ही बनाये हुए जालेमें फँस जाना यह बुद्धिमान् आदमीका काम नहीं है। स्वयं तो अपने कर्म बनाया और फिर बोले कि अब तो ऐसा फँस गये बाबा कि इसको छोड़ ही नहीं सकते। असलमें छोड़नेका जो सामर्थ्य हैं वह बना रहना चाहिए—त्यागका सामर्थ्य नहीं खोना चाहिए। 'उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु'—ये जो कर्म हैं वे मुझे नहीं बाँधते हैं। भगवान्‌ने अपने लिए बताया अग्निस्वरूप धनञ्जय तुम भी ऐसे ही बनो—तुमने धनका उपार्जन तो बहुत किया है। धनञ्जय—माने जो जीत-जीतकर धन

लाया हो। यह संज्ञा होनेसे ही धनञ्जय शब्द बनता है। नहीं, जो धनञ्जय बन जावे—'धनानि जयति इति धनञ्जयः'। यह किसीके लिए भी शब्दका प्रयोग होगा, लेकिन जब धनञ्जय शब्दका प्रयोग होगा तो अर्जुनके लिए होगा। सबको धनञ्जय नहीं बोल सकते। यह संज्ञा शब्द है। इसको व्याकरणकी दृष्टिसे—यहाँ जो न पर बिन्दु है वह केवल संज्ञा अर्थमें ही होता है। चाहे अग्निकी संज्ञा है, चाहे प्राणकी संज्ञा है, चाहे कुन्तीपुत्रकी संज्ञा है—धनञ्जय—तुमने धन तो बहुत उपार्जन किया है लेकिन क्या—दिग्विजय तुम्हारे हाथ रही है ? यह धन तुम्हारे साथ रहा है ?

आओ, अपने किये हुए कर्मसे तुम स्वयं अपनेको बाँधो मत। जैसे वह तुम्हारा बनाया हुआ है वैसे ही तुम उसको छोड़ भी सकते हो। इसका दृष्टान्त—'उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु।' मैं उदासीन हूँ। खेल करनेमें दिलचस्पी भी है, खेलने भी है; पर ऐसा खेल नहीं खेलते हैं कि उसमें सचमृच मर जावें। 'उत् उर्ध्वं आसीनवत्'—जैसे किसी नदीमें आयी बाढ़ और एक आदमी पहाड़की चोटीपर खड़ा, बैठा, लेटा देख रहा है कि नदीमें बाढ़ आ रही है। क्या हुआ ? उदासीन होगा। 'उत् ऊर्ध्वं आसीनः'। जो ऊपर बैठा है उसका नाम हो गया उदासीन। 'उदिति ब्रह्म नाम'। ब्रह्मका एक नाम है उत् क्योंकि उससे उत्, ऊर्ध्वं कोई नहीं है। सबसे ऊर्ध्व होनेसे, ब्रह्मका एक नाम है उत्। वह ब्रह्ममें बैठ गया।

जैसे जीवनसे मुक्त पुरुष ब्रह्ममें बैठ करके और सबसे मुक्त रहता है, वैसे मैं स्वभावसे ही बैठा हुआ हूँ। लोकमें जैसा जीवनमुक्त तुमने देखा है। एक अलीगढ़के पास महात्मा थे। उनका नाम था दूल्हा बाबा। लोग बड़ी श्रद्धा करते थे। एकके बेटेका ब्याह था।

रातको उन्हें जेवर पहना दिया—लड़कीको जो देना है—चढ़ाना था सो आपको पहले पहना देते हैं—पवित्र करते हैं। वे पहनाकर चले गये। दूसरे कोई रातमें आये, वे उतार ले गये। अब उन्होंने आकर कहा—महाराज, हमारा जेवर? बोले भाई कोई पहना गया—कोई उतार ले गया। न हम पहनानेवालेको पहचानते हैं—न उतारनेवालेको पहचानते हैं। ऐसे जीवन्मुक्त महापुरुष—कोइ आवे कोई जाय। यह उनकी मर्यादा होती है। 'आगच्छ, गच्छ, तिष्ठति'। आइये-आइये, जाइये-जाइये और रहिये-रहिये। ये तीनों बातें जीवन्मुक्तमें होती है—आया-आया—गया-गया—रहा-रहा। 'आगच्छ गच्छ तिष्ठति आसनम्'।

जैसे जीवनमुक्त पुरुष सृष्टिमें रहते हैं—किसोने प्रणाम किया, किसीने गाली दी। किसीने चन्दन लगाया, किसीने धूल फेंक दी। किसीने गलेमें रस्सी डाल दी, किसीने माला डाल दी—ज्यों-के-त्यों। भगवान् कहते हैं—'तुमने देखा है जीवनमुक्त पुरुष सृष्टिमें? वोले हाँ महाराज, देखा तो है—बोले वैसे ही मैं रहता हूँ—'उदासीनवदासीन'—दृष्टान्त जो होता है वह देखे हुएका होता है। जिसको वक्ता भी देख चुका हो, श्रोता भी देख चुका हो, वैसा दृष्टान्त होता है। संसारका दिया दृष्टान्त और बताया कि मैं ऐसा हूँ। मतलब है कि अर्जुन तुम भी ऐसे ही बनो। ऐसा बननेके लिए वह कौन-सा भाव है जो धारण करना चाहिए।

उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु—आसक्तं तेषु कर्मसु'। कर्मके साथ चिपको मत। सटो मत। किसी कामके साथ मत सट जाओ कि वह काम छूटे तो तुम भी छूट जाओ। किसीके साथ इतना मत हटो कि वह तुम्हारा दुश्मन होकर रह जाय। सटना और हटना दोनोंमें ही असंग व्यवहार होना चाहिए। यह असंगता शरीरसे नहीं होती है। आसक्ति होती है मनमें—मन यदि आसक्त

है तो आपको दुःख नहीं होगा। दुःखका अधिकरण—माने जहाँ दुःख होता है वह जगह अन्तःकरण है। सुख और दुःख दोनों मनमें होते हैं। आसक्ति जहाँ होती है, उसके मिलनेपर सुख होता है और जहाँ आसक्ति नहीं होती द्वेष होता है, उसके मिलनेपर दुःख होता है।

संसारमें आसक्ति न हो। सब करते चलो, करते चलो। और देखो बचपनसे अबतक पकड़कर रखा क्या है! वचपन कितना अच्छा था सब छूट गया। जवानी कितनी अच्छी थी, सब छूट गयी। हमारे माँ-वाप कितने अच्छे थे, उनकी याद आती है तो मनको बहुत अच्छा लगता है। लेकिन छूट गये। कहाँ है वह माँ, कहाँ है वह बाप! बहुत अच्छे थे। और कितने रिश्तेदार, नातेदार, सभी साथी, मित्र, कितने बढ़िया कपड़े और कितने बढ़िया मकान मिले और सब छूटते ही तो गये न! अनासक्तका अर्थ होता है अभिमान-शून्य। दुनियाकी किसी क्रिया को अपनी मत मानो। अभिमान मत करो। अभिमान-शून्य जो होता है उसको कर्म बाँध नहीं सकते।

भगवान्‌ने बताया 'न च मां तानि कर्माणि निवध्नन्ति धनञ्जय'। न मेरे मनमें अभिमान है और न मेरे मनमें आसक्ति है। मैं तो जीवन्मुक्त पुरुष संसारमें रहते हैं ठीक उससे मिलता जुलता अपनी जगहपर बैठ गया। कभी स्थानभ्रष्ट नहीं होता। बतलानेका मतलब यह है कि मनुष्यको अपना जीवन इसी ढंगसे निरभिमान होकर व्यतीत करना चाहिए। पुण्यका बड़प्पन नहीं आयेगा और पापके कारण जो हीनता आती है वह भी नहीं आयेगी।

उसको यह पश्चाताप नहीं होता कि यह अच्छा काम मैंने

क्यों नहीं किया। मुझसे यह गलती क्यों हुई ? बोले जहाँ अभिमान धारण करके बैठा है, वहीं गलतीके लिए पश्चाताप होता है और यही अच्छाईके लिए अभिमान होता है। अच्छाईमें भी ठीक समयसे सम्पन्न न हो तो पश्चाताप होता है। अच्छाई भी दुःख देती है बुराई तो करनेपर दुःख देती है और अच्छाई न करनेपर दुःख देती है। दुःखदायी दोनों ही हैं। इसलिए अच्छा बुरा दोनों छोड़ो। आगे इस प्रसंगमें बतायेंगे—भगवान्को अर्पित कर दो। 'शुभाशुभफलैरेवं मोक्षसे कर्मबन्धनैः'। अच्छाई, बुराई दोनों छोड़ोगे तो दोनोंके फलसे भी छूटोगे। और यह छोड़ना कैसे होगा ? हाथसे होगा, पाँवसे होगा, जबानसे होगा—नहीं, अभिमान न रहनेपर होगा और अभिमान कैसे छूटेगा ? जब परमात्मासे एक होकर बैठेंगे। परमात्मासे एक होकर रहो तो अभिमान काहेका ? इस तरहसे आगे आपको सुनायेंगे कि संसारमें जो फँसे हुए लोग हैं वे कैसे फँसते हैं प्रकृतिके जालमें और महात्मा लोग कैसे प्रकृतिके जालसे मुक्त हो जाते हैं। बाहरसे महात्मा नहीं, भीतरसे महात्मा रहोगे तो तुम्हारे जीवनमें भय नहीं आयेगा। दुःख नहीं आयेगा। हमारे इसी जीवनके लिए ये वस्तुएँ है। यह गीता मरे हुएके लिए नहीं है। भूत, भविष्यके लिए नहीं है, हमारे इसी जीवनको परमानन्दमें मग्न करनेके लिए है। यह गीता है।

●

प्रवचन : ४

एक सिद्धान्त ऐसा है कि सब वस्तुओंके परमाणु अलग-अलग होते हैं : पृथीवीके परमाणु, जलके परमाणु। परन्तु सांख्य सिद्धान्त कहता है कि कारणावस्थामें सब एक ही होता है। अलग-अलग कण नहीं हैं, सब कणोंको नचानेवाली और कणोंके रूपमें रहनेवाली एक मूलशक्ति है, उस शक्तिका नाम प्रकृति है। वही सबका मूल है। जितने भी अलग-अलग वीज हैं, अलग-अलग जीवोंके शरीर हैं, वे सब एक ही तत्त्वके विलास हैं और उसका नाम है प्रकृति।

जड़वादी लोग मानते हैं कि प्रकृति ही सारा काम करती है, प्रकृतिसे ही यह वायु चलती है, प्रकृतिसे ही सूर्य-चन्द्रमा वनते हैं, ये सब प्रकृतिका काम है। मनुष्यकी प्रकृति अलग, पशुकी अलग और मूलमें सारी प्रकृतियाँ एक हो जाती हैं। नास्तिक लोग सारा काम प्रकृतिका स्वीकार करते हैं और विज्ञानशक्तिकी एकताको स्वीकार करते हैं और इसीसे सारी सृष्टि बनती है, ऐसा मान हैं।

हमारा दर्शनशास्त्र है यह प्रकृतिकी एक साक्षी-दशा चेतन स्वीकार करता है, जिसके सामने यह प्रकृति कभी शान्त होती है और कभी विक्षिप्त होती है। इसकी दो मुद्रा हैं। जैसे समुद्र कभी शान्त हो गया और कभी लहराने लगा। ऐसे प्रकृति कभी शान्त हो जाती है, कभी विक्षिप्त हो जाती है। पर इस सबको जानने-वाला एक पुरुष रहता है। वह नियन्त्रण तो नहीं करता परन्तु

देखता है। वह दर्शक है। गीता ऐसी प्रकृति स्वीकार नहीं करती जो स्वतन्त्र हो। गीतामें जो प्रकृति है, उसका एक मालिक है। उसकी देखभाल करनेवाला है। यह बात आगेवाले श्लोक बतावेंगे।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥
अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥
महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥
सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥

भगवान् बोलते हैं 'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः'—अध्यक्ष शब्दसे तो आप परिचित हैं। कई बार कई सभामें, सोसाइटीमें अध्यक्ष हुए होंगे। अध्यक्ष शब्दमें जो अक्ष है वह तो है इन्द्रियोंका कोटर। इस शरीररूपी वृक्षमें कुछ छेद हैं, कोटर हैं। यह कान, यह नाक, यह मुँह, जो छिद्र हैं—शरीरमें उनको बोलते हैं अक्ष। इसीमें-से किसीके रास्ते कर्म होता है और किसीके रास्ते ज्ञान होता है। कानसे शब्दका ज्ञान होता है, आँखसे रूपका ज्ञान होता। जिस चामको हम चिकना सपाट करते हैं इसमें भी छिद्र हैं। वे आँखसे नहीं दीखते, पर यन्त्रसे दीखते हैं। उसीमें से पसीना निकलता है और बाहरके वातावरणका प्रभाव भी उन्हींमें-से जाता है। यह नासिका भी एक अक्ष है। जीभ भी एक अक्ष है। जीभमें भी छेद ही छेद हैं। कोई खटाई ग्रहण करता है, कोई मिठाई ग्रहण करता है।

कोई नमक ग्रहण करता है। सब छिद्रोंसे सबका ज्ञान नहीं होता। सब जिह्वाके छिद्र हैं और रस ग्रहण करते हैं।

अब आप देखो, इन्हीं अक्षोंसे अलग-अलग जो चीज देखी जाती है, उसको प्रत्यक्ष बोलते हैं—'अक्षं अक्षं प्रति प्रत्यक्षं'। आँखके लिए अलग प्रत्यक्ष है। कानके लिए अलग प्रत्यक्ष है। जैसे कठपुतलीका खेल होता है और नचानेवाला पीछे बैठता है—वैसे इन सब अक्षोंको, इद्रियोंको नचानेवाला जो इनके ऊपर बैठा हुआ है, सबको नचाता है। उसका नाम होता है अध्यक्ष। सबके ऊपर वही नजर रखता है। अगर वह चेतन न हो तो आँख देख नहीं सकेगी, कान सुन नहीं सकेंगे, जीभ स्वाद नहीं ले सकेगी। कोई ज्ञान नहीं होगा और कोई कर्म नहीं होगा।

अगर कोई नजर रखनेवाला न हो तो काम ठीक नहीं होता बल्कि काम करनेवालेसे देखभाल करनेवालेको निपुण होना चाहिए। महाराज रोटी बना रहा हो, गये घूमते हुए—तुम रोटी ठीक नहीं बेल रहे हो तो—कह देगा कि कैसे करें? लो तुरन्त बेलन हाथमें, लेकर बढ़िया रोटी बेल दो, तब तो तुम्हारी देखभाल चलेगी।

आजकल तो साहित्यमें कृतित्व बहुत चलता है। गतिके साथ तो 'प्र' जोड़कर प्रगति बना देते हैं लेकिन कृतिके साथ 'प्र' जोड़कर प्रकृति नहीं बनाते। वह शब्द ऐसा ही है। परमेश्वरकी सर्वोकृष्ट रचनाका नाम प्रकृति है और यह परमेश्वरकी प्रकृति है कि वह कभी बनाता है, कभी बिगाड़ता है। जैसे मनुष्य कभी एकान्तमें रहता है, कभी लोगोंमें रहता है। वैसे भगवान्‌का मन जब अकेले होनेका होता है तो अपने बनाये हुए जालेको, इन्द्रजालको समेट लेता है और जब खेलनेका मन होता है तब इस प्रकृतिके जालको फैला देता है और उससे खेलता है।

सांख्य दर्शनमें जैसे द्रष्टा और प्रकृति अलग-अलग हैं वैसे वेदान्त दर्शनमें द्रष्टा और प्रकृति अलग-अलग नहीं हैं। वह कहते हैं—'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा' परमात्माका ही एक नाम प्रकृति है। जब जड़ताकी प्रधानतासे उसका नाम लेते हैं तो प्रकृति बोलते हैं और चेतनताकी प्रधानतासे उसका नाम लेते हैं तो ब्रह्म बोलते हैं। असलमें वस्तु एक ही है, जो अंगरूपसे कारणका चिन्तन करते हैं, उसके लिए वह प्रकृति है और जो स्वरूप रूपसे कारणका चिन्तन करते हैं उनके लिए वह ब्रह्म है। दृष्टिकोणका ही अन्तर है।

जैसे एक सोनासे तरह-तरहके जेवर बनते हैं, एक मिट्टीसे तरह-तरहके बरतन बनते हैं, एक लोहेसे तरह-तरहके सामान बनते हैं। इसी तरहसे एक परमात्मासे यह सारी सृष्टि बनी हुई है। इसीसे यहाँ बताया कि 'सूयते सचराचरम्'—यह प्रकृति सचराचर जगत्की—जिसमें चलने-फिरनेवाले भी हैं और न चलने-फिरनेवाले भी हैं।

लेकिन इसी तत्त्वका वर्णन जब तेरहवें अध्यायमें दिया तो कहते हैं कि—यहाँ जहाँ हम बैठे हैं यहाँसे चराचर की सृष्टि हुई है और ब्रह्ममें जब बैठते हैं और देखते हैं कि चराचर मैं ही हूँ। इसलिए केवल दृष्टिकोणका अन्तर है। ब्रह्म और प्रकृतिमें कोई तात्त्विक या मौलिक अन्तर नहीं है।

उपनिषद्का सिद्धान्त यह है कि भगवान्की मायाका ही एक नाम प्रकृति है। वह चेतन होनेपर भी जड़ दीखने लगता है और जड़ न होनेपर भी जड़ दीखने लगता है। जड़ता है वह दिखाई पड़ती है और चेतन है परन्तु वह दिखायी नहीं पड़ता। इसलिए प्रकृति माने एक माया, एक जादूका खेल और यह वस्तुतः सब परमात्माका स्वरूप है। इसी मायाके अनेक रूप हैं।

भगवान्‌को नृत्य बहुत प्रिय है। संगीत भी प्रिय है। गाते तो स्वयं हैं ऐसा वेदमें वर्णन है। भगवान् बहुत बढ़िया गाते हैं। अपने अनेक नाम रख लेते हैं। यह स्त्री है, यह पुरुष है, यह बालक है, यह बालिका है, यह पशु है, यह पक्षी है—अपने ही अनेक नाम रख लेते हैं और बड़े प्रेमसे गाने लगते हैं। और जैसा जैसा गाना गाते हैं—वैसा वैसा बनता जाता है। यह विश्व क्या है ? भगवान्‌का संगीत है। उनके संगीतमें वह शक्ति है, जो नाना रूप, नाना आकार, नाना रंग-रूप, नाना आकृतिकी सृष्टि कर देता है। यह भगवान्‌का संगीत है और जहाँ संगीत बन्द किया, तन्मय हो गये—लीन हो गये—वहाँ सृष्टि गयी। ये नचा रहे हैं—अपनी अँगुलीको जैसे कोई नचावे। अपनी आँख नचानेका जो अभ्यास होता है जैसे वैसे ही भगवान् नचाते हैं इस सृष्टिको।

भगवान्‌की नर्तकीका नाम माया है। भगवान्‌की नर्तकीका नाम प्रकृति है। नचानेवाले भगवान् हैं—'जग देखन तुम देखन हारे। विधि हरि संभु नचावन हारे।' ये जो भक्तोंके भगवान् हैं ये तो नचाते भी हैं और नाचते भी हैं। लेकिन नाचते हैं मायाके साथ। 'रूप रासि नृप अजिर विहारी। नाचत निज प्रतिबिम्ब निहारी।' अपने प्रतिबिम्बको देखकर नाचते हैं। स्वयं देखनेवाले हैं—स्वयं नाचनेवाले हैं। यह सब भगवान्‌की लीला हो रही है।

'हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते। जगद् वर्तते, जगत् परिवर्तते' इसमें दो उपसर्ग हैं वि और परि तथा वर्तते। वर्तते तो है क्रियापद और वि और परि हैं उसके उपसर्ग, जो वर्ततेके अर्थको बदलते हैं। उपसर्ग धातुके साथ लगाया ही इसलिए जाता है कि क्रियापदके अर्थको बदल दे। देखो हार—'हृ' धातुसे घञ् प्रत्यय कर लाने, हर लानेके अर्थमें है—तो विहार, संहार,

परिहार, उपहार, आहार ये सब एक-एक अक्षर अलग उपसर्गके जोड़े और आहार हो गया, उपहार हो गया, विहार हो गया, संहार हो गया, परिहार हो गया। एक ही धातु है उपसर्ग उसके अर्थको अलग-अलग कर देता है। तो यह जगत बरत रहा है। अब बरत रहा है तो बदलो—'परिवर्तते' परिवर्तन हो रहा है। बचपन गया, जवानी आयी—जवानी जायगी बुढ़ापा आवेगा। जीवन जायेगा, मृत्यु आयेगी। यह सपनेकी तरह सारी सृष्टि बदलती रहती है। क्यों बदलती रहती है? यह सृष्टि नाच-नाचकर बदल-बदलकर, कभी इशारेसे अपनी ओर बुलाती है और कभी इशारेसे हटाती है। यही तो मृत्युकी मुद्रा है न!

नृत्यकी मुद्रा यही है, कभी आँख को टेढ़ी कर दी और कभी सीधी कर दी। प्रेमकी चाल करना नृत्य है। यह जो माया नदी है, यह जो प्रकृति नदी है, यह परमेश्वरके सामने नाचती है और नचानेवाले सूत्रधार वही हैं। 'उमा दारु जोसित की नाईं। सबहि नचावत राम गोसाईं'। जैसे कठपुतलीको—यह जड़को नचानेका वर्णन है—काकभुशुण्डिजीने कहा मर्कटके समान जीवोंको नचाते हैं। और शंकरजीने कहा कि नहीं नहीं चेतन तो दूसरा कोई है ही नहीं—'उमा दारु जोसित की नाईं। सबहि नचावत राम गोसाईं।' काकभुशुण्डिजीके ज्ञानसे शंकरजीका ज्ञान थोड़ा ऊपर रहता है। अब आपको सुनायें—इस सारे चराचर जगत्में केवल परिवर्तन नहीं है—क्या है? विपरिवर्तन है। विपरिवर्तन माने विरुद्ध परिवर्तन। विरुद्धं परिवर्तते। जैसा परिवर्तन नहीं है वैसा मालूम पड़ता है। परमात्मा तो है ज्यों-का-त्यों। प्रकृति है ज्यों-की-त्यों। स्त्रियोंके जेवर जल्दी जल्दी बदल जाते हैं तो सोना तो ज्यों-का-त्यों रहता है। उसकी कीमत बढ़ती जाती है। पर सोना ज्यों-का-त्यों रहता है। सोनेमें जेवर क्या हैं? परिवर्तन

है। नहीं; तत्त्वका परिवर्तन नहीं है—नाम रूपका परिवर्तन है। सोना था, वह पहले कड़ेके रूपमें था। फिर उसको कंगन बना दिया। उसकी अंगूठी बनवा दी। उसका कुण्डल बना दिया। तो नाम तो बदल गये, उसकी शकल-सूरत बदल गयी। लेकिन सोना तो सोना ही रहा। सोनेके वजनमें कोई फरक पड़ गया क्या? वजन ज्यों-का-त्यों। असल वजनका फरक न माटीमें पड़ता है न पानीमें, न तेजमें, न वायुमें, न आकाशमें—तत्त्वके वजनमें कभी फरक नहीं पड़ता। वह घटता, बढ़ता मालूम ही पड़ता है। मरता भी कुछ नहीं। आदमीके मरनेसे क्या माटी मर जाती है? माटी माटीमें गयी। पानी पानीमें गया। गरमी गरमीमें गयी। आसमान आसमानमें गया। हवा हवामें गयी। मरना तो कुछ है ही नहीं।

मृत्यु न जड़की होती है न चेतनकी। एक माया ही है—मनुष्य शकल-सूरतको पकड़कर बैठ गया है। जेवर बनोगे तो टूट जाओगे और सोना रहोगे तो बने रहोगे। इतनी-सी वेदान्तकी बात है। तुम अपनेको जेवर मानते हो कि सोना। यदि स्वर्ण मानते हो तो टूटोगे नहीं—गल जाओगे तब भी सोना ही रहोगे। चूर-चूर हो जाओगे तब भी सोना ही रहोगे। जेवर बन जाओगे तब भी सोना ही रहोगे। और यदि तुम अपनेको नाम-रूप अंगूठी मानते हो तो टूट जाओगे। इस प्रकार जिसने आपको ब्रह्म जान लिया उसका टूटना बन्द हो गया। तो 'विपरिवर्तते। विरुद्धं परिवर्तते। यत्र परिवर्तनं नास्ति तत्रैव परिवर्तनं प्रतीयते'। जहाँ परिवर्तन नहीं है, वहीं यह परिवर्तन मालूम पड़ता है।

भगवान्‌ने अपनी ओर नजर खींची। भगवान्‌का काम यही है कि अपनी ओर नजर खींचे। वैसे वेदान्ती लोग एक बहुत

वढ़िया वात वोलते हैं। वे कहते हैं कि शब्दके द्वारा जिसका वर्णन किया जाता है—वह सच्चा हो कि झूठ हो, सचका भी वर्णन किया जा सकता है, पर जो वर्णन करनेवाला है, वह सत्य ही होता है। जो वोलेगा तो है इसमें तो कोई शंका नहीं, लेकिन जो वोला जायगा वह है कि नहीं इसमें शंका हो सकती है। वचनसे वक्ताका अस्तित्व सिद्ध होता है।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि ये जो तुम हमको देख रहे हो, मैं मनुष्य नहीं हूँ, यह मनुष्यका आकार है।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

यह मनुष्यका आकार है, मैं मनुष्य नहीं हूँ। मैंने तो मनुष्यका आकार ग्रहण किया है। अब जो लोग अपनेको आकार समझते हैं वे तो मायाके चक्करमें फँस जाते हैं। और जो अपनेको इस आकारमें भी निराकार अनुभव करते हैं, उनका न जन्म है, न मरण है। न जाना है, न आना है, न उनमें पाप है, न पुण्य है, न स्वर्ग है, न नरक है। यह तो जब शकल-सूरतवाले बनते हैं तब वे पापी होते हैं—पुण्यात्मा होते हैं, जिसने अपनेको शकल-सूरतके नाम-रूपसे उठा लिया—हुलिया तो दो ही तरहकी होती है एक तो नाम लिखा जाता है—अमुक नाम है, अमुकका वेटा है—और एक ऐसी नाक है, ऐसी आँख है, ऐसा मुँह है—इन्हीं दोनोंसे चोर पकड़ा जाता है। चोर पकड़नेके लिए उसका नाम-पता चाहिए और उसके शकल-सूरतकी हुलिया चाहिए। इस दुनियामें पकड़ा वही जायेगा जो अपना नाम-रूप रखके फँस जायेगा। और जो अपना नाम-रूप छोड़ देगा वह कभी पकड़ा नहीं जायेगा। उसके पकड़नेके लिए कोई रजिस्टर ही नहीं है। न यमराजके घरमें है, न कहीं बाहर है।

'अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।' पहलेके लोग मूढ़ शब्दका प्रयोग करते थे। क्योंकि परमात्माकी प्राप्ति मूढ़को नहीं होती—अमूढ़को होती है। 'गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्'—जिसके अन्दर मान नहीं है, मोह नहीं है, जिसमें मोह है उसीका नाम मूढ़ है। मूढ़ किसको कहते हैं ? जिसका चित्त सत्यकी ओरसे विमुख हो गया है, विपरीत हो गया है। सत्यका तो अनुभव होता है। और असत्यके साथ मोह होता है। उसको हम छोड़ नहीं सकते। यह जो संसारमें मूढ़ हो गये हैं, अटक गये हैं--कोई आकारमें अटक गये तो कोई विकारमें अटक गये। जो उनसे मुक्त भी हुए वे संसारमें अटक गये। अपने-अपने संस्कारमें अटक गये—देखो मुसलमानका संस्कार इतना प्रबल हो गया कि वह मूर्ति तोड़ने लग गया। हिन्दूका संस्कार इतना प्रबल हो गया कि वह नमाजके समय वहाँ जाकर बाजा बजाने लगा। यह दोनों अपने-अपने संस्कारोंमें मूढ हो गये। वे भी मूढ़ हैं, ये भी मूढ़ हैं—काम-क्रोध-लोभ-मोह जो विकार हैं चित्तके उनमें मूढ़ हो करके चोरी, बेईमानी करते हैं। पर-स्त्रीकी ओर बुरी नजर करते हैं। ये विकारमें मूढ़ हैं। और कोई पहलवान है, जरा गोरी चमड़ी है, सुन्दर है, तो वह आकारमें, रेखाओंमें मूढ़ है। यह क्या है ? नाकमें सुन्दरता काहेकी है ? रेखाकी है। ओठमें सुन्दरता काहेकी है ? एक रेखा ! रेखाओंसे बने हुए आकार। रेखा काहेसे बनी है ? बिन्दु-बिन्दुसे और बिन्दु क्या है ? शून्य है। शून्यमें बिन्दु है और बिन्दुमें रेखा है और उन रेखाओंसे बनी चीजमें हम मूढ़ हो जाते हैं। उसको सच्ची समझ लिया। उसको सुखदायी समझ लिया—वह मूढ़ हो गया।

जो मूढ़ नहीं होता है सृष्टिमें उसको परमात्माकी प्राप्ति होती है। अब-जब भगवान् मनुष्यका शरीर लेकर आये तो लोगोंने—

जैसे हमारा शरीर वैसे ही उनका शरीर ऐसे समझा। अरे बाबा सोनामें और मिट्टीमें बहुत फरक होता है। एक मिट्टीकी शकल है, हड्डी, माँस, चाम अपनेको मानते हैं और उनमें मूढ़ हो रहे हैं। और एक अपनेको परिपूर्ण ब्रह्म चेतन जानता है उसमें स्थित है। हड्डी, चाम, विष्ठा, मूत्रकी पुड़ियाको जानते हैं, मानते हैं, उसीमें मूढ़ होते हैं। परन्तु भगवान् अपनेको चैतन्य, साक्षात् ब्रह्म रूपमें जानते हैं।

अर्जुनने उनको पहचाना—तुम्हीं ब्रह्म हो, साक्षात् परब्रह्म परमात्मा तुम्हीं हो। ये मूढ़ लोग मेरा अपमान करते हैं। असलमें जिनकी सृष्टि परमाणुओंसे बनती है, प्रकृतिसे बनती है, शून्यसे बनती है, वे लोग यदि श्रीकृष्णको अवतार न मानें तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। लेकिन जो लोग यह जानते हैं, अनुभव करते हैं कि आत्मचैतन्य ही सारी सृष्टिके रूपमें दीख रहा है, उनके लिए तो 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' है। वे श्रीकृष्णके श्रीविग्रहका तिरस्कार कैसे कर सकते हैं? उनकी तो चिद् दृष्टि है। वे चेतन हैं, वे आनन्द हैं। 'रसो वै सः।'

'अवजानन्ति मां मूढाः मानुषीं तनुमाश्रितम्।' क्यों अपमान करते हैं?

'परं भावम् अजानन्त मम भूतमहेश्वरम्।' असलमें जितने भूत हैं—पृथीवी, जल, वायु, आकाश, प्रकृतिपर्यन्त—इन सब भूतोंका महेश्वर, अध्यक्ष मैं हूँ। अध्यक्षका एक और मजेदार अर्थ होता है। 'अधि अक्षिणी यस्य।' अधि माने जो बुद्धिहीन लोग हैं उनकी देख-भाल करनेके लिए नियुक्त किया जाता है। जो बुद्धिमान् होंगे वे बिलकुल ठीक-ठीक काम करेंगे। तो जिनको बेवकूफोंका सरदार बनाया जाता है—अधीश्वर है, अधीश, अध्यक्ष है। नहीं तो जो

सर्वज्ञ है उसे मालिककी जरूरत नहीं पड़ती है। अज्ञको ही मालिककी जरूरत पड़ती है। जहाँ लोग नियन्त्रण-शून्य होते हैं वहाँ नियन्त्रण करनेके लिए अध्यक्षकी जरूरत पड़ती है। अनुशासनरहित हैं तो अनुशिष्ट करनेके लिए अध्यक्षकी आवश्यकता पड़ती है। 'परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्।' ये सम्पूर्ण जो भूतसृष्टि है, उसका मैं महेश्वर हूँ और मैं पर भाव हूँ। माने हूँ तो सबका आत्मा, सबकी सत्ता परन्तु नाम-रूपमें जो फँसी हुई सत्ता है, नाम-रूपमें फँसा हुआ जो भाव है वह मैं नहीं हूँ।

इसका नतीजा क्या होता है? इसकी परिणति कहाँ है? जो चीज नहीं है उसको सच मान करके फँस गये। वह कभी सटेगी तो कभी हटेगी भी। कभी आयेगी कभी जायेगी। जो फल लगता है पेड़में वह गिरता है। जो आग जलती है, वह कभी न कभी बुझ जाती है। जो पैदा होता है वह मरता है। यह नियम है। जो भी जीयेगा वह मरेगा। लेकिन जीवन-मरणसे रहित जो तत्त्व है उसको जान लो तो न जीवन है, न मरण है। उस परमात्माको जानो। अब बोले—उसको तो नहीं जानते हैं, जानते हैं छोटी-छोटी चीजको।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥
प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः।
महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः॥

अब यही भेद बताते हैं कि संसारमें क्या स्थिति हो रही है लोगोंकी—ईश्वरकी ओरसे नहीं—अपनी ओरसे विमुख हो रहे हैं। दुनियाको जाना अपने आपको नहीं जाना। और देखो अपनी योग्यताको जाने बिना कोई काम करोगे तो उसमें विफलता मिलेगी। आप यह नहीं समझ सकते कि कितना वजन उठा सकते

हैं। अपनी योग्यताका पता नहीं है। और एक क्विटल उठानेको जाओगे—नहीं उठेगा तो विफलता मिलेगी कि नहीं। आशा थी कि हम इसको उठाकर ले जायेंगे। असलमें जिसे लड़कीका ब्याह करना होता है तो लड़की भले काली हो, कुरूप हो, अनपढ़ हो, हम कोशिश यही करेंगे कि जो सबसे सुन्दर लड़का हो, धनी हो, स्वस्थ हो, उसीके साथ विवाह हो। ऐसा नहीं होता है तो दुःख हो जाता है। हम सोचते हैं यह व्यापार करेंगे इसमें इतना लाभ हो जायेगा। नहीं होता है तो दुःखी हो जाते हैं। तो अपनी योग्यता, अपनी शक्ति, अपनी अवस्था, अपनी परिस्थिति इनका सबका विचार करके तब काम करना होता है। ताड़के ऊपर तो फल लगा है और बौना हाथ उठाता है तो कहाँतक हाथ उसका पहुँचेगा ? ये जो लोग संसारमें ही मूढ़ हो गये—उनकी आशा तो होती है बड़ी बड़ी और योग्यता और शक्ति होती है बहुत कम तो होगा क्या ? उनकी आशा व्यर्थ जाती है।

आशावान् जो है उसको थोड़ा थोड़ा दुःख जरूर रहेगा। यदि वह युवा है, उत्साही है, अपनी आशाको पूर्ण करता है तो बात दूसरी है। लेकिन अपने भीतर जो अमृतकी धारा बह रही है उसकी ओर न देखकर आशा दूसरी ओर देखती है। उनकी आशा व्यर्थ गयी। 'मोघाशा मोघकर्माणः' संसार तुम्हारे हाथमें रहेगा ऐसी तो आशा मानते हैं। और संसारको पानेका करते हैं—प्रयत्न। उनका ज्ञान है झूठा और बेहोशी छायी हुई है। और फिर अपनी आशा पूरी करनेके लिए क्या करते हैं—राक्षसी प्रकृति—जो बेमतलब दूसरेको तकलीफ दे। आसुरी प्रकृति—मतलब पूरा ✓करनेके लिए, स्वार्थ पूरा करनेके लिए जो दूसरेको कष्ट दे और जो बिना स्वार्थके भी दूसरेको कष्ट दे वह राक्षसी प्रकृति।

वह कौन है ? बोले 'प्रकृतिं मोहिनीम्'—बेहोश हैं बिचारे।

तमोगुणी हैं। उनको कुछ पता ही नहीं है कि हम दूसरेको तकलीफ दे रहे हैं या अपनेको आराम दे रहे हैं। वे तो तोड़फोड़में ही लगे रहते हैं। उनको न अपने हितका ज्ञान है न पराये हितका ज्ञान है। राष्ट्रका हित कहाँसे करेंगे ? वे तो अपनी पार्टीका भी हित नहीं करते हैं। अपने व्यक्तिका भी हित नहीं करते हैं– अपनेको भी बदनाम कर देते हैं। 'मोघज्ञाना विचेतसः'। दूसरेको तकलीफ देनेवाले—जिनकी सेवा करनी चाहिए उनको ताप पहुँचानेवाले—भलेमानुषको कष्ट देनेवाले और स्वयं अपनेको भी कष्टमें डालनेवाले, वे न मानवताका हित करेंगे न विश्वका हित करेंगे न राष्ट्रका हित करेंगे—न अपने समाजका हित करेंगे। वे तो स्वयं 'नष्टः परान् नाशयति'—स्वयं तो गये और दूसरोंको भी मारनेमें लगे हुए हैं।

मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥

अब देखो यहाँपर प्रकृति शब्दका अर्थ स्पष्ट करते हैं। तामसी प्रकृति अलग होती है और दैवी प्रकृति अलग होती है। एक असुर प्रकृति होती है और एक दैव प्रकृति होती है। किसीका स्वभाव दिव्य होता है और किसीका स्वभाव आसुर होता है। अपने स्वभावको वशमें रखना, इसको पौरुष बोलते हैं।

श्रीमद्भागवतमें एक प्रश्न है—शूरता क्या है ? उद्धवजीने श्रीकृष्णसे पूछा—वीरकी वीरता क्या है ? शूरकी शूरता क्या है ? शौर्य क्या है ? वीर्य क्या है ? इसके उत्तरमें श्रीकृष्णने कहा—स्वभाव जो अपनी आदतोंपर विजय प्राप्त कर लेता है वह वीर पुरुष है। अरे भाई, हमारी यह आदत पड़ गयी है। आदत पड़ गयी है तो डाली हुई तो है न ! जैसे डाली वैसे छोड़ दो। एक दिन

तुमने आदत डाल ली थी। हमने ऐसा भी देखा कि २-३ दिन कोई काम लगातार करते हैं और उनसे पूछो कि ऐसा क्यों करते हो?' तो कहते हैं—हमारी तो आदत पड़ गयी है। अरे भाई, तीन दिनमें तुम्हारी आदत पड़ गयी तो तीन दिनमें कोशिश करके छोड़ दो। असलमें ये जो संस्कार होते हैं, ये विकारकी जो आदतें हैं उनको रोकनेके लिए ही संस्कार किये जाते हैं। बाल उग जाते हैं शरीरमें तो उनका संस्कार करते हैं। उनको काटकर, बनाकर, तेल-फूलेल लगाकर अच्छी तरह चिकना-चुपड़ा करते हैं। इसका नाम संस्कार होता है।

यह संस्कार तीन तरहका होता है। जैसे तुम्हारे बाल रूखे हैं तो दोष है। उनको चिकना करके दोष दूर करो। आजकल हमने देखा है स्त्रियोंकी बात तो हम नहीं जानते—हम तो पुरुषोंकी जानते हैं। खेती करवा लाते हैं अपने सिरपर—बालोंकी खेती होती है। जैसे धान रोपते हैं खेतमें, ऐसे सिरमें बालोंको रोपा जाता है और यह देखनेमें बिलकुल क्यारी-की-क्यारी लगती है। अच्छा नहीं है बाल तो क्या बात है, अपनेको संस्कृत रखो। बिखरे हुए हैं तो ठीक करलो। आपके जीवनमें, आपके मनमें कोई बिखराव है तो संस्कार करके उसको ठीक कर लेना चाहिए।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥
सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥

जल्दी-जल्दी यह पार करलें—अब तत्त्वका निरूपण कम है। अब भगवान्की भक्तिका निरूपण है। उनकी उपासना कैसे

करनी ? क्योंकि तत्त्वमें जैसे कोई बाजारमें कपड़ा खरीदने जाये तो यह सूत कौन-सा है इसपर दृष्टि कम जाती है। डिजाइन देखते हैं। डिजाइन देखनेवाला ठगा जाता है। उसका तो मौलिक तत्त्व देखना चाहिए। आपने यह तो देखा ही नहीं कि सोना है कि पीतल है कि ताँबा है। उसकी धातु नहीं पहचानी। मूल वस्तुकी धातुकी जो पहचान है उसका नाम तो होता है तत्वज्ञान और केवल उसकी शकल, सूरत, डिजाइन—देखा चाम, बहुत सुन्दर है--पर भीतर क्या है ?

सोनेका घड़ा है, ठीक है पर उसके भीतर है क्या--अमृत है कि दूध है कि शराब है ? यह तो देख लेना चाहिए ? जो राक्षसी, आसुरी और मोहिनी प्रकृतिके आश्रित है उनसे विलक्षण है।

महात्मानस्तु—'तु' शब्दका जो प्रयोग है वह पहले जो वर्णन किया गया है उससे भिन्न है—वह ऐसा है, वह ऐसा है, वह ऐसा है और यह तो 'वह'से विलक्षण है। 'महात्मानस्तु।' महात्मा बोलते हैं जिसका मन महान् हो। अत्मा माने मन—आत्मा माने शरीर नहीं और जिसका आत्मा महान् हो। 'महान् आतमा = तस्य वसुधैव कुटुम्बकम्।' जो किसी घेरेमें बँधे हुए नहीं हैं। इतनी महान् आत्मा है कि वह एक देशके सैनिकको नहीं, विश्वके सैनिकको अपना हाथ समझता है। एक परिछिन्न दृष्टिको नहीं—समग्र मानवताको अपनी दृष्टिसे देखता है। यह प्रान्तीयता आयी, जातीयता आयी, साम्प्रदायिकता आयी और असलमें वह राष्ट्रीयता भी अच्छी नहीं है जो मानवताके विरुद्ध होती है।

अखिल विश्वमें जो मानवसृष्टि है उस मानवताके विरुद्ध यदि अपनी राष्ट्रीयता पड़ती है तो वह भी नमस्कार करने योग्य होती है। वह एक व्यामोह है। कहाँ घेरा बनाया ? पाकिस्तान हिन्दुस्तानके बीचमें कोई नदी बह गयी ? कोई समुद्रकी खायीं

आगयी ? कोई पहाड़ आगया ? मन ही तो है। जिन्होंने पहले कराँची देखी है, लाहौर देखा है, ढाका देखा है, उनके भीतर वह संस्कार बना हुआ है कि यह हमारा देश है—सारा एशिया हमारा है। सम्पूर्ण विश्व विराट् हमारा है। उसको बोलते हैं—महात्मा।

एक महात्माओंका आश्रम है—बड़ा विशाल। उसमें जो गुरुजी थे मर गये। उनके दो चेले थे। उनमें हुई लड़ाई। निर्णयमें ठीक मन्दिरके सामने—हनुमान्‌जीका बड़ा भारी मन्दिर है—उसके सामने एक दीवार खिंच दी गयी। दीवारके इधर वे रहते हैं। दीवारके इधर वे रहते हैं। अब यह कोई महात्माका लक्षण थोड़े ही है कि हनुमान्‌जीके सामने दीवार बनाके, उधरसे तुम पूजा करो, इधरसे हम पूजा करें।

'महात्मानस्तु मां पार्थ'—महात्मा माने समग्र विश्व जिसका आत्मा है। जैसे अपने शरीरमें ही कहीं नाखून है गड़नेवाला, तो कहीं आँख है प्यार करनेवाली, मुसकान है प्यार करनेवाली, कहीं रसरक्त है तो कहीं मलमूत्र है। परन्तु है सब अपना आपा। वैसे ही समग्र विश्वसृष्टिमें जो अच्छा है—जो बुरा है सब अपना स्वरूप है। अपना दिल कभी नहीं बिगाड़ना चाहिए। 'महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः। भजन्त्यनन्यमनसो--पार्थ= परमेश्वरः अर्थःप्रयोजनं यस्य'। जो परमेश्वरको चाहता है उसका नाम है पार्थ। जो पृथाका पुत्र है उसका नाम है।

हे परमेश्वरको चाहनेवाले अर्जुन सुनो! महात्माओंकी बात तुमको सुनाता हूँ। पहली बात यह है कि अपने जीवनमें दैवी प्रकृतिको धारण करना है। दैवी प्रकृति क्या है? दैवी संपदा। मा 'शुचः। भवन्ति संपदं दैवीं अभिजातोसि भारत'। शोक मत करो। तुम्हारे जीवनमें दैवी सम्पत्ति है। दैवी सम्पत्ति क्या है? 'अभयं'--

साँचको आँच क्या ? अगर तुम परमात्माके स्वरूप हो तो तुम्हें डर किसका है ? तुम्हारा कौन क्या ले जा सकता है ? जितना परमात्माने तुमको दिया है वह कोई छीन नहीं सकता है। अभय शब्दका अर्थ है--किसीको भयभीत करे नहीं और स्वयं भयभीत होवे नहीं। किसीको डरावे नहीं और स्वयं डरे नहीं। सब वस्तु--चिद्वस्तु अपना स्वरूप है। अन्तःकरण शुद्ध रखे। 'अभयं सत्त्व-संशुद्धिः।' और ज्ञानके अनुसार—ज्ञानयोगमें अपनी स्थिति हो। दैवी सम्पत्तिका कई प्रकार है। यह महात्माओंके जीवनमें रहती है। और क्या करते हैं ? 'भजन्त्यनन्यमनसो'—अनन्य मानस होकर, अन्यमना नहीं। एक आदमीको रोटी खिलाते हैं--उधर देख रहे हैं। उनसे बात कर रहे हैं--देख रहे हैं कहीं--बात कर रहे हैं किसीसे, दो तरफ मन बैठ गया।

यह शिष्टचार है कि जिससे बात करना है, उनकी ओर देखकर बात करें। जिसको रोटी परसे—जरा प्यारसे, आँखसे देखकर, रोटी पटके नहीं। कहीं दाल, कहीं साग, कहीं चटनी। ऐसा नहीं! 'अनन्यमनसा' माने मनको कई जगह नहीं करना। अनन्य भावसे परमात्माका भजन करना। अनन्य भावसे भजन होगा कैसे ? कितनी चीजें दिख रही हैं। हमको यह पेड़ दिख रहा है, चिड़िया दिख रहीहै, स्त्री दिख रहीहै, पुरुष दिख रहे हैं तो मन अनन्य कैसे होगा? 'ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्।' सम्पूर्ण प्राणियोंके आदिमें जो तत्त्व मैं हूँ, परमात्मा—वह कभी घिस नहीं गया है, अव्यय है, ज्यों-का-त्यों—वह सबके अन्दर मैं हूँ। नजर तुम्हारी वह चाहिए जो बाहर-बाहर देखकर रह न जाये। भीतर तक पहुँच जाये। सबके भीतर परमात्मा है। यह ज्ञान महात्माको है कि सबके आदिमें, मध्यमें और अन्तमें अविनाशी परमात्मा है।

इसलिए नाम, रूप चाहे कोई भी हो मैं परमात्माको ही देख

रहा हूँ। यह हो गया अनन्यमना। ऐसा मन तो नहीं बनता है। आओ ऐसा मन बनावें।

> सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
> नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥
> ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
> एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥
> अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
> मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥

मैं क्या हूँ? 'अनन्यमना' कैसे हों? जब सबमें भगवान्को देखोगे तब 'अनन्यमना' हो जाओगे। 'अनन्यमना' माने परमात्माके सिवाय और कहीं मन जावे नहीं। यह देखो श्याम, यह देखो श्याम। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म।' सब परमात्माका स्वरूप। एक श्लोकमें भगवान्ने अपने बारह रूप बताये।

> गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
> प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥

पृथिवी बनकर आपको ऊपर उठाये हुए हैं—पानी बनकर आपको तर करते हैं। गरमी बनकर आपके टेंपरेचरको ठीक रखते हैं। कभी-कभी चढ़-उतर जाता है। वही सांस बनकर हमारे शरीरको जीवन देता है। वही हमारे शरीरमें अवकाश हैं। वही हमारे शरीरमें ज्योति हैं। जहाँ देखता हूँ वहाँ तुमही तो हो। परमात्माका दर्शन कैसे होगा? 'सततं कीर्तयन्तो मां'—कीर्तन करो—'कीर्तनं शब्दने'—यह कीर्तन शब्दका आजकल जो अर्थ प्रचलित है कि 'ढोलक बजाओ जोर-जोरसे गाओ' यह तो महाराज, खुदा जब बहुत दूर होता है—सातवें आसमानमें होता है, तो वहाँतक तुम्हारी आवाज पहुँच जाय इसके लिए बड़े जोरसे

चिल्लाते हैं। कीर्तन शब्दका अर्थ होता है 'कीर्तनं शब्दने।' कीर्त धातुका अर्थ है सं शब्द अच्छे शब्दोंमें किसी वस्तुका वर्णन करना। 'संकीर्तनं भगवतो गुण कर्म नाम्ना'—भगवान्के गुणका, चरित्रका, नामका संकीर्तन बड़े प्रेमसे करो, मधुर स्वरसे। बाबा, वह इतना सुकुमार है भगवान् कि उसके लिए कड़ी आवाजकी तो जरूरत ही नहीं है। ऐसा सुमधुर संगीत कि उसके कानमें गुदगुदी पैदा हो जावे, इतने मधुर स्वरमें बोलो। 'सततं'—हमेशा, आज बड़ी धूप निकली है, आज बड़ा अन्धेरा छाया हुआ—आज बड़ी गरमी पड़ रही है और दोनोंको मालूम है। यह नहीं कि एकको ही मालूम है, दूसरेको बताना है। बतानेकी क्या जरूरत है? अरे कहो न देखो भगवान्की लीला—कल ठण्ढ डाल रहे थे, आज गरमी डाल रहे हैं। उसमें भगवान्को जोड़ो। 'सततं कीर्तयन्तो मां।' कोई भी प्रसंग हो, उसमें परमात्माका कीर्तन जोड़ लो।

हमारे चैतन्य महाप्रभुवाले सततं शब्दका अर्थ दूसरा करते हैं—लगातार नहीं—'सततं वीणादिकं वाद्यं' बाँसुरी लो, वीणा लो, सितार लो और उसपर भगवत्कीर्तन कर लो। 'संततं कीर्तयन्तो वीणादिकं वाद्यं यन्त्रं'—सततंका अर्थ है तार टूटने न पावे। देखो जब सूतसे वस्त्र बनाते समय एक सूत टूट जाता है तो मशीन बन्द हो जाती है। यदि परमात्माके साथ, अपने खजानेके साथ, अपने उत्सके साथ, अपने उद्गमके साथ, जो तुम्हारा सम्बन्ध है, वहाँसे जो रस्सी जुड़ी हुई है, यदि पॉवरहाउससे तुम्हारी बिजलीका सम्बन्ध नहीं रहेगा तो क्या होगा? बल्ब कैसे जलेगा। 'सततं कीर्तयन्तो मां।' तार जुड़ा हो। 'यतन्तश्च दृढ़व्रताः'।

•

प्रवचन : ५

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ।।
सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ।।

महात्माकी विशेषता क्या है ? जो राक्षसी, आसुरी और मोहिनी प्रकृतिके आश्रित हैं वे तो भगवान्‌का भजन नहीं कर सकते परन्तु जो महात्मा हैं वे दैवी प्रकृतिका आश्रय लेते हैं। असलमें जो भगवान्‌का आश्रय लेते हैं, उनमें दैवी प्रकृति प्रतिष्ठित होती है और जो दैवी प्रकृतिका आश्रय लेते हैं वे भगवान्‌का भजन करते हैं। बिना भगवान्‌के आश्रयके दैवी सम्पदा, दैवी स्वभाव नहीं हो सकता और बिना दैवी स्वभावके भगवान्‌का भजन नहीं हो सकता। यह दोनों एक साथ हैं। जैसे भागवतमें आता है कि मैंने अपने हृदयसे भगवान्‌का आश्रय लिया।

ब्रह्माजी बोलते हैं—मैंने अपने उत्कण्ठायुक्त हृदयसे भगवान्‌को पकड़ रखा है। अपने हृदयमें धारण कर रखा है। मेरी वाणी कभी झूठी नहीं होती। भगवान् हृदयमें है तो मेरी वाणी कभी झूठी नहीं होती। मेरा मन व्यर्थ चिंतन नहीं करता। हमारा मन झूठमूठकी चीजोंमें नहीं जाता है। मेरी इन्द्रियाँ कभी कुमार्गमें गिरती नहीं। इसका कारण क्या है ? उत्कण्ठायुक्त हृदयमें एक ही

अभिलाषा है। लाख-लाख रूपमें वह भगवान्‌की ओर आगे बढ़ता है। यदि संसारका कोई काम है, कर्तव्य है तो उसको पूरा करो परन्तु मनको व्यर्थ इधर-उधर भटकने मत दो। उसको भगवान्‌में लगा दो। भागवतमें यहाँतक वर्णन किया कि जिसके हृदयमें भक्ति है उसीमें सारे सद्‌गुण आकर निवास करते हैं।

जिसके हृदयमें भगवान्‌की भक्ति है, अकिंचन भक्ति, उसको दूसरे किसी व्यक्ति अथवा दूसरी किसी वस्तुका सहारा नहीं चाहिए। ये भक्तिके साथ दो लक्षण हैं—'अकिंचनो' मेरा कुछ नहीं है, सब तुम्हारा है। मुझे और किसीका सहारा नहीं है, तुम्हारा सहारा है। 'अकिंचनो अनन्यगतिः।' बस; अब आयी भक्ति हृदयमें। जिसके हृदयमें यह 'अकिंचन' भक्ति आ जाती है—'सर्वे गुणास्तत्र समासते।' देवता लोग कहते हैं—भाई यह भगवान्‌का भक्त है, यह मालिकका अनन्य सेवक है—मालिकका कृपापात्र है। हमलोगोंको इसकी सेवा करनी चाहिए। उसके हाथमें इन्द्र बैठकर अच्छे काम करवाते हैं और पाँवमें विष्णु बैठकर अच्छी जगह ले जाते हैं। गति विष्णु हैं, गति माने सब कर्मोंका जो फल है वह देनेवाले स्वयं विष्णु। स्वर्गमें ले जावें, बैकुण्ठमें ले जावें, फल देनेवाले विष्णु। सब देवता आकरके बैठते हैं और अकेले नहीं आते हैं, अपने गुणोंके साथ आते हैं। जिस कर्मसे इन्द्र इन्द्र बना है, वह सत्कर्म लेकर आता है। जिस वरोंसे वरुण बने हैं—वह आप्यायनी शक्ति। पृथिवी देवतामें जो धारिणी शक्ति है वह हमारे अन्दर होनी चाहिए, उसे धारण करें। जल देवतामें आप्यायनी शक्ति है, सबको तर करना। तेजस्‌में प्रकाशिनी शक्ति है, सबको ज्ञान देना। वायुमें प्राणिनी शक्ति है, सबको जीवन देना, प्राण देना। आकाशमें व्यापिनी शक्ति है—सबको अपना आत्मा समझें। अपने साथ जैसा व्यवहार करते हैं वैसा औरोंके साथ भी करनेका ध्यान रखते हैं। सब जितने देवता

हैं—पृथिवी देवता, आपो देवता, अग्निर्देवता, वायुर्देवता, ये सब देवता अपने-अपने गुणोंको लेकर उसके (भक्तके) जीवनमें बैठते हैं। जिसके जीवनमें भगवान्‌की भक्ति नहीं है, उसके जीवनमें महान् गुण नहीं आ सकते। कहाँसे आवेंगे? क्योंकि सब महान् गुणोंके आगार तो भगवान् हैं। वे आवेंगे तो सब गुणोंको लेकर आवेंगे। हमेशाके लिए आवेंगे।

जो अपने हृदयमें भगवान्‌को नहीं बैठायेगा वह मनकी मोटरपर बैठा और बुरी-बुरी जगह दौड़ करके जाता रहता है। 'मनोरथेन बहिः'। घरमें उसका मन नहीं लगेगा। अपने हृदयमें वह नहीं रहेगा। आप बाहर क्यों जाते है? या तो घरमें कोई तकलीफ हो, जहाँ हम उद्विग्न हो जाते हैं या बाहर कुछ बहुत आराम मिलता हो, बहुत सुख मिलता हो तो जाते हैं। किसीके घरमें एअरकण्डीशन नहीं है। दुकानमें एअरकण्डीशन लगा है-- तो दोपहरके समय एअरकण्डीशन दुकानमें चला जायगा। या तो अपने घरमें कोई दुःख है या बाहर सुख मिलता है। 'मनोरथेन'— मनकी मोटरपर चढ़े और असत्य स्थानपर, जहाँ नहीं जाना चाहिए वहाँ चले जाते हैं। और जिनके हृदयमें भगवान् हैं--भगवान्‌को भक्ति है उन्हें कहीं नहीं जाना पड़ता है। 'महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।' देवताकी जो प्रकृति है, सम्पदा है, वह प्रकृति, वही सम्पदा है। माशुचः।

भगवान् कहते हैं—अर्जुन दैवी सम्पदा प्राप्त हो गयी है—'अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः। दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तपमार्जवम्!' तीन ऊपर पहले जो हैं वे मानसिक हैं। अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः'। और 'दानं, दमश्च, यज्ञश्च, स्वाध्यायः' ये बाहरके हैं। दान करो, मनको संयममें रखो, यज्ञ करो। यह दैवी सम्पदाकी पहचान है। महात्मा कौन है? जिसके

अन्दर दैवी सम्पदा हो। ज्ञानी भी हो और उसमें दैवी सम्पदा न हो तो उस ज्ञानीको महात्मा नहीं मानेंगे। और कोई भजन-पूजन खूब करता हो और उसमें दैवी सम्पदा नहीं है तो भजन-पूजन करनेवाला हो सकता है पर वह महात्मा नहीं हो सकता। खूब योगी है पर समाधिसे उठनेपर आसुरी सम्पत्ति उसमें आ जावे तो वह महात्मा नहीं हो सकता। वह योगी हो सकता है, महात्मा नहीं। ज्ञानी हो सकता है, महात्मा नहीं। भजन-पूजन करनेवाला हो सकता है, महात्मा नहीं। महात्मा होनेकी एक ही शर्त है कि अपने जीवनमें उत्तम गुण होने चाहिए।

इस गुणकी एक भूमिका बताते हैं। 'भजन्ति अनन्यमनसः।' अब महात्माकी तात्त्विक पहचान आयी। 'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः। बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।' बहुत जन्मोंके बाद ज्ञानवान होता है। 'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् भवति। ततः वासुदेवः सर्वमिति मां प्रपद्यते।' अनेक जन्मसे सिद्ध होनेपर ज्ञान-प्राप्ति होती है और ज्ञानकी प्राप्ति होनेपर 'वासुदेवः सर्वम् इति मां प्रपद्यते।' सब कुछ परमात्मा है यह अनुभूति होती है। 'स महात्मा सुदुर्लभः।' वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है। अब देखो जबतक सब परमात्मा, वासुदेव नहीं होगा तबतक भजन अनन्य मनसा होगा ही नहीं। अनन्यमना तभी हो सकता है, जब भगवान्‌से अन्य और कुछ न हो। जबतक अन्य रहेगा तबतक अन्यमना होगा। जब अन्य नहीं रहेगा तो अनन्यमना होगा।

गीतामें इस अनन्यताकी चर्चा अनेक बार की है। 'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः'—इसी अध्यायमें आनेवाला है। 'अनन्यचेता सततं यो मां स्मरति नित्यशः।' पहले आ चुका है। भगवान्‌का भजन करो। एक बात आप देखो कि आप चाहते क्या हो? जिस चीजको आप चाहते हो उसमें महत्त्वबुद्धि है कि नहीं है। बिना

महत्त्वबुद्धि हुए, उस चीजको कीमती माने बिना आप उसको चाहेंगे कैसे ? और जब उसकी इतनी कीमत मानें कि पानेके लिए व्याकुल हों। जिसमें महत्त्वः बुद्धि होगी उसको पानेके लिए आप घर, मजहब, इमानदारी, बेइमानी सबको स्वीकार करेंगे। इसलिए भक्तिका अर्थ है कि आपके जीवनमें जो महत्त्वबुद्धि है वह भगवान्‌के प्रति हो जाय। बिना भगवान्‌में महत्त्वबुद्धि सर्वोपरि हुए भक्ति प्रकट नहीं होगी। पहले यह देखो कि आपके अर्थसे भी महत्त्वपूर्ण भगवान् हैं। आपकी कामनापूर्तिसे भी महत्त्वपूर्ण भगवान् हैं। आपके धर्मानुष्ठानसे भी महत्त्वपूर्ण भगवान् हैं। मोक्षदाता प्रभु मोक्षकी अपेक्षा भी महान् है। जब भगवान्‌में महत्त्वबुद्धि होगी, भगवान् ही सबसे अधिक कीमती वस्तु है, वैसा मूल्यवान् पदार्थ सृष्टिमें और कोई नहीं है।

अब आपके सामने विकल्प आगया। क्या आप भगवान्‌के लिए संसारकी बेइमानी छोड़ते हैं ? चोरी छोड़ते हैं ? जारी छोड़ते हैं ? हिंसा छोड़ते हैं ? आप भगवान्‌को छोड़ते हैं ? एक ओर आपको झूठसे, बेईमानीसे, चोरीसे, जारीसे मिलनेवाली चीज है और एक ओर भक्तिसे मिलनेवाले भगवान् हैं तो आप अपने हृदयमें क्या रखना पसन्द करेंगे ? भगवान्‌की भक्ति रखना पसन्द करेंगे कि दुनियाके लिए अपने चित्तको विक्षिप्त करना, मलिन करना, दूषित करना पसन्द करेंगे ? इसलिए अनन्यमना होकरके, क्योंकि परमात्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। जहाँ देखता हूँ वहाँ तू ही तू है। सद्‌गुणको अपने जीवनमें धारण करनेकी यही युक्ति है—सर्वत्र भगवद्दर्शन।

एक बात और आपको सुनाता हूँ—असलमें सद्‌गुण बहुत प्रिय है। जिस शान्तिसे असत्य छूटता है उस शन्तिका नाम सत्य है। असत्यको छुड़ानेवाला है सत्य। यह तो ठीक है परन्तु बोलनेका

नाम सत्य नहीं है। मौन भी तो एक सद्गुण है! और वह तो मानसिक तप है—मौन! 'भावसंशुद्धि'—किसी प्रसंगमें आप मौन रह सकते हैं या बोलते ही बोलते जायेंगे। ज्यादा बोलेंगे तो झूठ जरूर बोलेंगे। निरर्थक जरूर बोलेंगे। मौन धारणका भी सामर्थ्य होना चाहिए। असत्यसे बचानेवाला मौन है और उसका नाम शान्ति है।

इसीसे मुण्डकश्रुतिके भाष्यमें आचार्यने सत्यका अर्थ सत्य बोलना नहीं लिखा। उन्होंने लिखा, असत्य भाषणका परित्याग। परित्याग तो मौनमें भी होगा और सत्य भाषणमें भी होगा। असत्यका त्याग शान्ति है। और चोरीका त्याग भी शान्ति है। हिंसाका त्याग शान्ति है। परिग्रहका त्याग शान्ति है और कामवासनाके उद्रेकका त्याग शान्ति है। असलमें आप अपने हृदयमें जो वस्तु शान्ति देती है उसको पकड़ लें तो चाहे कुछ हो, चाहे घीका घड़ा ढरक जाय हम तो अपने हृदयको शान्त रखेंगे—अशान्त नहीं होने देंगे। हमारे हृदयकी प्रसन्नता, हमारे हृदयकी निर्मलता खो न जाय। और कुछ ध्यान रखनेकी जरूरत ही नहीं है। आप इतना ही ध्यान रखो कि हमारे हृदयमें शान्ति बनी रहे। हमारा प्रसाद कोई छीन न ले जाय। 'प्रसादस्तु प्रसन्नता।' हमारे हृदयको निर्मलता, प्रसन्नता, शान्ति कहीं छिन न जाय। सारे सद्गुण आपमें निवास करेंगे और आपका मन अपनी आत्मामें जो कि परमात्माका स्वरूप है, उसमें स्थित रहेगा तब आप आत्मा नहीं, महात्मा हो जायेंगे।

आत्माकी सिद्धि विवेकसे होती है और परमात्माकी प्राप्ति अनुभवसे होती है। लेकिन महात्मा कैसे होता है? स्वयंको महात्मा होना हो तो सद्गुण चाहिए और दूसरेको महात्मा मानना हो तो श्रद्धा चाहिए। 'भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्।'

इसके लिए परमात्माका ज्ञान आवश्यक है। संसारकी जितनी भी वस्तुएँ हैं उनका उत्स परमात्मा है। 'प्रभवः प्रलयः स्थानं'— उसीमें-से सब निकलते हैं और उसीमें सब लीन होते हैं। बस यह जान लो कि परमात्माके सब बच्चे हैं और सब परमात्माकी गोदमें हैं और अपने बच्चों के रूपमें परमात्मा ही है। आप जहाँ देखेंगे— अच्छी-अच्छी शकल बनाकर आये हैं—स्त्रीके रूपमें तो, पुरुषके रूपमें तो, पेड़-पौधोंके रूपमें तो, कहीं कोई अन्य है ऐसा मन बनता ही नहीं।

अच्छा, अब उसकी प्राप्तिके लिए कायिक, मानसिक, वाचिक व्यापार—संस्कृत भाषामें व्यापार माने वाणिज्य नहीं होता है। मन, वचन, शरीर इनके द्वारा जो भी क्रिया होती है—व्याहृति उसको व्यापार बोलते हैं। संस्कृत भाषामें व्यापार शब्द बड़े व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होता है। विशेष वह पालक और पूरक है। पाल जो अधूरेको पूरा कर दे—जिसके पास भोजन नहीं है उसको विशेष रूपसे सम्पूर्ण भोजन पहुँचा दे। इसका नाम व्यापार है। और जो सूख रहा है उसको हरा-भरा कर दे, पोषण दे दे, पालन करे और पोषण करे उसका नाम होता है पाल और विशेष रूपसे और पूर्ण रूपसे जो भरपूर कर दे लोगोंको, जिसके पास जो चीज न हो, उसके पास पहुँचा दे। तो यह शरीरसे, मनसे, वाणीसे जो हमारा व्यापार हो, जो भी क्रिया हो—वह भगवान्के लिए हो। अब व्यापार कीजिये—जिसके पास कपड़ा नहीं है, उसके पास कपड़ा पहुँचे और जिसके पास अन्न नहीं है, उसके पास अन्न पहुँचे। जिसके पास मकान बनानेकी सामग्री नहीं है उसके पास मकान बनानेकी सामग्री पहुँचे। जिसके पास औषध नहीं है, उसके पास औषध पहुँचे। आपके व्यापारका नियम, अर्थ यह होता है कि अभावग्रस्त जो संसारके प्राणी हैं, उनके अभावकी पूर्ति की जाय, उनको जीवनदान दिया जाय।

सबके लिए यह व्यापार कैसे होगा ? जब भगवान्‌के लिए आपका व्यापार होगा। नहीं तो बहुत सीमित हो जायेगा। अपने सुखके लिए परिवारको भी छोड़ देते हैं। परिवारके सुखके लिए गाँवको छोड़ देते हैं। गाँवके सुखके लिए प्रान्तको छोड़ देते हैं। प्रान्तके सुखके लिए राष्ट्रको छोड़ देते हैं और राष्ट्रके सुखके लिए मानवताका ख्याल छोड़ देते हैं। विश्व-मानवताको छोड़ देते हैं। विश्व-मानवताकी अपेक्षा राष्ट्र छोटी चीज है। राष्ट्रकी अपेक्षा प्रान्त, प्रान्तकी अपेक्षा जिला, जिलेकी अपेक्षा गाँव छोटी चीज है। सम्पूर्ण विश्वको ध्यानमें रखकर हमको अपना काम करना है कि किसीको कष्ट न पहुँचे। यह कैसे होगा ? हम तो सम्पूर्ण विश्वको ही नहीं जानते तब भगवत्-भावसे काम होगा ? भगवान्‌के लिए जो काम हो जाता है वह सबके लिए हो जाता है। तो अपने हृदयमें शान्ति रखनेके लिए, प्रसन्नता रखनेके लिए, अपने हृदयको निर्मल बनानेके लिए, अपने हृदयमें पूर्णताको अभिव्यक्ति देनेके लिए भगवान्‌की भक्ति आवश्यक है।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्साम यजुरेव च॥

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥

वाह, क्या बढ़िया बात सुना रहे हैं। पहली बात तो यह है कि आप अपने जीवनमें कोई व्रत लीजिये। 'दृढव्रताः' जब कोई व्रत लेते हैं, तो उसको पूर्ण करनेके लिए—कभी-कभी कष्ट भी सहन करना पड़ता है। आपके अन्दर सहिष्णुता आजायेगी और नियम पालनके लिए आत्मबल आयेगा। मनोबल आयेगा। जब कोई काम आप संसारमें करेंगे तो आपको आत्मबल चाहिए—मनोबल चाहिए—'नायं आत्मा बलहीनेन लभ्यः'। जो व्रत लिया, नियम लिया और जरा-सी तकलीफ होनेपर छोड़ दिया तो आपका मनोबल जो है, उसका ह्रास हो जायेगा। फिर आप कोई भी कठिन काम करनेमें समर्थ नहीं होंगे। नियम लिया और तोड़ दिया। जरा-सी कठिनाई आयी, अड़चन आयी और तोड़ दिया। जो लोग अपने नियमका पालन नहीं कर सकते वे संसारमें कोई महान् कार्य नहीं कर सकते। क्योंकि महान् कार्य करने जब चलेंगे तो विघ्न तो आयेंगे ही—'श्रेयांसि बहु विघ्नानि'। अच्छा काम करनेमें विघ्न जरूर आता है। जरा-सा विघ्न आया और आप विचलित हो जायेंगे। उत्तम पुरुषका लक्षण यह है 'विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमाना प्रारभ्य चोत्तमजनाः न परित्यजन्ति'। बारम्बार उसके काममें विघ्न आते हैं परन्तु वह कोई उत्तम काम प्रारम्भ करके फिर उसको छोड़ते नहीं हैं। तो 'दृढव्रताः' यह बात है कि आपके जीवनमें दृढ़ नियम, दृढ़ व्रत होना चाहिए।

अब तो हमको यह हिसाब करना है, चाहे शरीर गिरे या काम पूरा हो। यहाँतक कि देखो भगीरथ गंगाजीको ले आये, तो एक पीढ़ीमें नहीं लासके, दूसरी पीढ़ी, तीसरी पीढ़ी तक इसीमें लगे रहे और फिर गंगाजीको नीचे उतारकर उन्होंने छोड़ा। हिमालयमें-से पृथीवीपर ले आये। लोगोंके लिए अमृतका झरना, अमृतका स्रोत धरतीपर ले आये। एक पीढ़ी न सही, तीन पीढ़ी सही पर ले तो

आये न ! हमें भगवान्‌की भक्तिको अपने हृदयमें लाना है। इसके लिए शरीर, मन और वाणीसे—तीनों ओरसे सच्चिदानन्दको अपने जीवनमें बिठाना चाहिए। 'सततं कीर्तयन्तो मां'। प्रतिदिन, प्रतिक्षण लगातार—तार न टूटे। भगवान्‌का कीर्तन, भगवान्‌के स्वरूपका, उनके स्वभावका, उनके गुणका, उनके चरित्रका, उनके नामका, कीर्तन करना—अच्छे शब्दोंमें उनका उच्चारण करना। 'कीर्त संशब्दने' यह अपनी वाणी भगवान्‌के लिए लगे। नहीं लगती है—बीच-बीचमें बेमतलब कितनी बातें आ जाती हैं। 'यतन्तश्च' प्रयत्न करो। 'भक्त्या सततं कीर्तयन्तः' भक्तिसे भगवान्‌के स्वरूप, स्वभाव, गुण, चरित्र, नामका कीर्तन करो—एक बात। दूसरी बात नित्य योग, यह मानसिक बात, नित्य योग न हो तो नित्य योगकी लालसा रखो। यह मानसिक प्रवृत्ति है और कायिक—शारीरिक क्या है ?

'नमस्यन्तः' नमस्कार! देखो दुनियामें एक मजहब ही ऐसा है कि जो 'नमस् नमस् नमस् नमांसि' ईश्वरको नमस्कार करनेका है ! श्रीरामानुजाचार्य तो कहते हैं कि चाहे कीचड़ हो, चाहे धूल हो, अपने शरीरकी परवाह किये बिना साष्टांग प्रणिपात करो। उसमें संसारका ध्यान रखनेकी कोई जरूरत नहीं है। 'नमस्यन्तश्च' ऐसा नमस्कार करो कि स्वयंको नमस्कार भी हो जाय। यह भी नहीं होता है, न तो नित्ययुक्त होता है—न तो सतत कीर्तन होता है और न तो नित्य नमस्यन्तश्च—यह क्या आश्चर्य है कि सततं है कीर्तनके साथ नित्ययुक्ता है युक्तके साथ और नमस्यन्तश्च मां भक्त्या और नमस्कार करो भक्तिसे। इसमें चाहिए व्रत।

वेदका मन्त्र है—

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणा।
दक्षिणया श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥

उसका अर्थ है, यदि जीवनमें कोई व्रत लोगे—ब्राह्मण लोग जब दक्षिणा लेते हैं यजमानसे तब इस मन्त्रका उच्चारण करते हैं। परन्तु केवल शब्दकी समता ही है इसमें—अर्थ तो दूसरा है। अपने जीवनमें कोई व्रत धारण करो। यदि व्रतमें कोई त्रुटि होगी, तुम्हारे करनेमें कोई गलती हो तो गुरु दीक्षा दे देगा कि यह काम ऐसे करो—यह करना चाहिए और जब कोई बतानेवाला मिल जायेगा, बता देगा तो दक्षिणा माने कौशल मिल जायेगा। वह काम करनेमें तुम्हें निपुणता मिल जायेगी।

जब कुशलतासे, चतुराईसे, निपुणतासे कोई काम करोगे तो उसमें श्रद्धा हो जायेगी। रस आ जायेगा। श्रद्धा वह वस्तु है जो सूखेमें भी रस भर देती है। और 'श्रद्धया सत्यमाप्यते।' जैसे ज्ञानका शास्त्रमें वर्णन है न कि ज्ञानसे आत्माका साक्षात्कार होता है, ब्रह्मका साक्षात्कार होता है, वैसे श्रद्धासे सत्यका साक्षात्कार होता है। यह वर्णन है, 'श्रद्धया सत्यमाप्यते।' अपने जीवनमें चाहिए नियमकी दृढ़ता और सबकी सहायताके लिए चाहिए भक्ति और प्रयत्न। मुखसे कीर्तन, शरीरसे नमस्कार और मनसे दृढ़योग।

'सततं कीर्तयन्तो मां'—सर्वसाधारण है। इसमें प्राणिमात्रका अधिकार है। वाजपेय यज्ञ करना हो तो केवल ब्राह्मण कर सकता है। राजसूय यज्ञ करना हो तो केवल राजा ही कर सकता है और वैश्यस्तोम करना हो तो केवल वैश्य कर सकता है। लेकिन यह भगवान्‌की भक्ति ब्राह्मण करे या क्षत्रिय यह भेद नहीं है। मनुष्यकी दृष्टिसे कहो तो चाण्डाल भी कर सकता है।

भक्ति तो पेड़-पौधे भी कर सकते हैं। व्रजकी भक्तिमें यह वर्णन आता है कि कृष्णको देखकर लता खिलती है, पृथिवीको रोमांच हो जाता है और नदी स्थिर हो जाती है। पहाड़ोंसे मधुधारा गिरने लग जाती है। यह क्यों होता है? श्रीकृष्णके

प्रेमसे ! यह तो पेड़-पौधेके लिए बनायी गयी है। वहाँ गौएँ भी श्रीकृष्णको देखकर दूध झरने लगती हैं और पक्षी भी श्रीकृष्णको देखकर एकटक देखने लगते हैं। मोर भी नाचने लगता है। भक्तिमें अधिकारकी कोई समस्या नहीं है। कोई पापी हो—'अपि चेत्सुदुराचारो ।' कुत्ता भी भगवान्‌की भक्ति कर सकता है। यह सबके लिए है। जो भगवान्‌का बालक है, पुत्र है—जिनके स्वामी भगवान् हैं। अपने स्वामीकी भक्ति करनेमें सबका अधिकार होता है। अपने पिताकी भक्ति करनेमें सबका अधिकार होता है। अपनी आत्मासे प्रेम करनेमें सबका अधिकार होता है। अपने स्वामीकी हम सेवा करेंगे तो कोई कहेगा—तुम अधिकारी नहीं हो ! अपने पिताकी कोई सेवा करेगा तो कोई कहेगा कि 'तुम अधिकारी नहीं हो'। इसीसे यह जो भक्ति है, यह प्रीति है—यह सबके लिए है। बल्कि यह बताया है कि जो यह भक्ति नहीं करता है, वह अपने कर्तव्यसे च्युत हो जाता है।

भागवतमें आया है क हमारे पिता हैं परमेश्वर। वे हमारे स्वामी हैं। ईश्वर हमारे मालिक हैं। हमारा आत्मा है परमेश्वर। यदि हम उनसे प्रीति नहीं करेंगे तो जहाँतक हम पहुँच चुके हैं वहाँसे गिर जायेंगे। 'स्थानात् भ्रष्टः' कुर्सी तो छिन ही जायगी, जेलमें भी जाना पड़ेगा। 'स्थानात् भ्रष्टः' माने कुर्सी छिन गयी और 'पतन्त' माने जेलमें चले गये। तो उनसे प्रीति करना अपना कर्तव्य है। इसका अनुष्ठान भिन्न-भिन्न लोग भिन्न-भिन्न प्रकारसे करते हैं। भक्तिकी एक ही प्रक्रिया नहीं होती। मालिकके चलनेके रास्तेमें, उनकी श्रीमतीके चलनेके रास्तेमें, उनके बेटेके चलनेके रास्तेमें, उनके सेवकके चलनेके रास्तेमें अगर कूड़ा-कर्कट हो तो उसको साफ करना भक्ति है कि नहीं ? वह भी तो सेवा है न ! रसोई बनाना, पानी भरना, पंखा झलना, संगीत सुनाना, वेद-पाठ करके सुनाना, पहरेदारी करना सब सेवा है।

✓ श्रमका प्रकट रूप है सेवा। और प्रेमका वाप है विश्वास। जितना विश्वास होगा उतना प्रेम होगा। जितना प्रेम होगा, उतनी सेवा होगी। वह एक ही रीतिसे नहीं होती। भिन्न-भिन्न रीतिसे होती है। 'ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ते यजन्तो मामुपासते।' ज्ञान-यज्ञ—ज्ञान भी है और यज्ञ भी है। इसमें विशेषता क्या है कि एक तो होता है वेदान्तियोंका अद्वैतात्मक ज्ञान। उसमें क्रियाका समन्वय नहीं होता है। क्रिया परम्परासे समन्वित होती है। कर्म किया—अन्तःकरण शुद्ध हुआ और अन्तःकरणमें ज्ञान हुआ। वह एक प्रक्रिया अलग है और यह जो समग्र भक्तिकी प्रक्रिया है—उसमें रामानुज और मध्व, बल्लभाचार्य, समग्र शैव, शाक्त, गाणपत्य, सौर सब एक मत हैं। वे कहते हैं कि हमारा जो जीवन है इसमें कुछ कर्मेन्द्रिय हैं और कुछ ज्ञानेन्द्रिय हैं। केवल ज्ञानेन्द्रियसे जो काम होगा वह तो ज्ञान होगा और केवल कर्मेन्द्रियका जो कर्म होगा वह केवल कर्म होगा। पर जब एक शुभ उद्देश्यसे ज्ञान और कर्म दोनों एकमें मिल जावें तो उसका नाम ज्ञान-यज्ञ हो जायेगा। यज्ञ होनेसे कर्म हो गया और ज्ञान तो उसमें है ही। देखो, भगवान्‌को देखो, यह ज्ञान हुआ और भगवान्‌के लिए चलो, यह कर्म हुआ। जब भगवान्‌के दर्शनके लिए चले तो उसका नाम ज्ञान-यज्ञ हो गया। कोई भी मनुष्य चाहता है कि हम आँखको भगवान्‌में लगायें और हाथ न लगायें। कान तो लगायें पर जीभ न लगायें। जीभ लगायें पर कान न लगायें। ऐसा नहीं होगा। यदि परमेश्वरका ज्ञान प्राप्त करने जाओ तो प्रेम होता जायेगा और उसकी सेवा भी अवश्य होगी और सब परमात्माका स्वरूप है।

जो यह है वह भी भगवान् है और जो मैं हूँ वह भी भगवान् ही है। तव—'ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।' भागवतमें

लिखा है कि अपनेमें भी भगवान्‌की पूजा करनी चाहिए। वह कैसे ? अपनेको ठीक स्नान कराओ। ठीक वस्त्र पहनाओ। ठीक भोजन कराओ और अपनेको स्वस्थ प्रसन्न रखो। तब जैसे दूसरेके हृदयमें बैठे हुए भगवान्‌की पूजा होती है, वैसे अपने हृदयमें बैठे हुए भगवान्‌की पूजा होती है। अपने हृदयमें बैठे हुए भगवान्‌की भी पूजा करो और दूसरेके हृदयमें बैठे हुए भगवान्‌की भी पूजा करो। यदि अपनेको बहुत कष्ट दोगे तो अपनेको असुर बना लोगे। अपनेको सेवाके योग्य तो रखो। अपनेको सेवाके योग्य रखनेमें भी सेवा होती है। यदि अपनेको सुखाकर सेवाके अयोग्य कर दिया तो सामनेवालेकी सेवा भी नहीं हो सकेगी। श्रीमद्भागवतका कहना है, अपनेको हृष्ट, पुष्ट, स्वस्थ, प्रसन्न रख करके और फिर दूसरोंमें, सबमें भगवान्‌की सेवा करो। ज्ञान-यज्ञ चाहिए, ज्ञान भी चाहिए। आँखसे देखो, पाँवसे चलो।

श्रीकृष्णसे प्रेम करनेमें पेड़-पौधेके लिए भी मनाही नहीं है। दोनों एक साथ परमेश्वरके लिए काम करें। 'यजन्तो मां उपासते।' ज्ञान भी हो यज्ञ भी हो। यज्ञकी एक प्रक्रिया है। उसमें देना-लेना दोनों होता है। जैसे आप अग्निके सामने बैठकर हवन करते हैं तो आहुति तो देते हैं अग्निको और अग्निका जो ताप है—तेजस्विता है, उसको ग्रहण करते हैं अपने आप! दान और आदान दोनों ही यज्ञमें होता है। और उत्सर्ग नियम होता है। ऐसे आहुति देना, ऐसे व्रत करना, ऐसे पूजा करना, ऐसे रहना।

मनुष्यका जीवन एक यज्ञ है। पृथिवी यज्ञ करती है। इसके साथ कितना भी अन्याय करो, सह लेती है और भोजन सबको देती है। कोई गड्ढा खोद दे, थूँक दे, मल-मूत्र कर दे, लेकिन अन्न उसको मिलेगा ही। जलको आप कितना ही गन्दा कीजिये

वह आपको मना नहीं करेगा—रस जरूर देगा। वायु आपको साँस देगा। सूर्य-चन्द्रमा बिना विश्राम किये प्रकाश, गर्मी और शीतलता दे रहे हैं।

हमारे जीवनका यज्ञ ऐसा होना चाहिए। 'ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये' किसके लिए यज्ञ हो—'मां यजन्तो' दान भो करे तो किसके लिए ? बोले परमात्माके लिए—दान न गरीबके लिए है, न विद्वान्के लिए। गरीबको दान करनेसे उसके जीवनकी रक्षा होती है। विद्वान्को दान करनेसे ज्ञानकी, धर्मकी, संस्कृतिकी रक्षा होती है। लेकिन गरीबमें जो है वह विद्वान्में भी है और विद्वान्में जो है वह गरीबमें भी है। गरीबका दान सत्प्रधान है और विद्वान्का दान चित्-प्रधान है, यह जो नाटकमें, संगीतमें दान है संगीत नृत्य-वादनमें जो दान है, यह आनन्द-दान है। गरीबके प्रति जो दान है वह जीवनदान है। विद्वान्, सत्पुरुषके प्रति जो दान है वह ज्ञान-दान है। एक विद्वान् कहीं सृष्टिमें जीवित रहेगा तो फिरसे धर्म और संस्कृतिका झरना बहा सकता है। यज्ञमें दान होता है सद्गुणोंका आदान करना। अपने जीवनमें नियम निष्ठाको लाना। कष्ट सहिष्णुताको लाना। परन्तु उपासना भगवान्की करना।

'यजन्तो मामुपासते'। यह सब कुछ करें परन्तु करें भगवान्के लिए। तब इससे न तो अपने व्यक्तिमें अभिमानका उदय होगा और न तो दूसरेको हम एहसानमन्द बनायेंगे। हमने तुमको दिया है, नहीं; भगवान्को दिया है। हमने दिया है, नहीं-नहीं भगवान्ने दिया है। देनेवालेका हाथ उठानेवाला भगवान् है और लेनेवालेका हाथ रोपनेवाला भगवान् है। वही देता है और वही लेता है। बिचौलियेकी जरूरत भगवान्को नहीं है। स्वयं देते हैं, स्वयं लेते हैं। यह बात भागवतमें भरतोपाख्यानमें बिलकुल स्पष्ट है। भरतका

देना—भगवान् दे रहे हैं। इन्द्रका लेना—बोले भगवान् ले रहे हैं। देवताका अन्तर्यामी भी भगवान् है और दाताका अन्तर्यामी भो भगवान् है। अन्तर्यामी ही अन्तर्यामीको देता और लेता है। इसमें अभिमानको कोई स्थान ही नहीं है।

'मां उपासते' उपासना कई तरहकी होती है। 'एकत्वेन, पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्'। अपने मैंको परमात्मासे मिला दो-- एकत्व हो गया। जैसा अपनेसे प्रेम है, अपनी सेवासे, वैसे ही सबसे प्रेम, सबकी सेवा। 'मैं सेवक सचराचर रूप-रासि भगवंत'—यह पृथक्त्वेन। सूर्य भी वही है, चन्द्रमा भी वही है, भगवान् अष्टमूर्ति है, अष्टमूर्तिमें पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा और ऋत्विक् ये आठ मूर्तियाँ भगवान्‌की हैं--आठोंकी सेवा करो। सूर्य-चन्द्रमाको आप अर्घ देते हैं। अग्निकी भी सेवा कते हैं, वायुकी भी सेवा करते हैं। इसका एक यह भी अर्थ है कि पृथिवी, जलको गन्दा मत करो उसमें अपवित्र वस्तु मत डालो। अग्निका सदुपयोग करो, उसमें गन्दा मत डालो। वातावरणको दूषित मत करो। आकाशमें गन्दे शब्द मत भरो। यह भी भगवान्‌की सेवा है। 'एकत्वेन पृथक्त्वेन' बहुधा अनेक रूपमें—माँके रूपमें, पिताके रूपमें सेवा करो। सब रूपमें यही हैं। बहुधा—सब रूपमें वही है।

वल्लभाचार्यने तो पुत्रके रूपमें भगवान्‌की सेवा की। यह आश्चर्य है। रामकृष्ण परमहंसने पत्नीके रूपमें मांकी उपासना की। अपनी पत्नी है न—माँ-माँ कर रहे थे पूजाकी सामग्री रखकर। और आकर उनकी श्रीमतीजी बैठ गयीं सिंहासनपर तब जगज्जननी जगदम्बा मानकर पूजा की।

कौन स्तव्य बड़ा है, कौन स्तव्य छोटा है, यह कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं। एक परमात्मा सबमें पूर्ण है। बहुधा विश्वतो-

मुखम् । जल दो पीपलमें, तुलसीमें, बेलमें और कहो यह परमात्माकी पूजा है। पार्थिव लिंग बनाओ और उसपर चन्दन-अक्षत चढ़ाओ और कहो यह भगवान्की पूजा है। पत्थरकी मूर्ति हैं—लिंग है सब।

यह बात दुनियाके दूसरे किसी मजहबमें नहीं है, इसलिए आप इसको वहाँसे मत लीजिये। वहाँ तो ईश्वर निराकार है। वैज्ञानिक लोगोंको अभी ईश्वरका पता ही नहीं है। साइन्समें-से पूजा मत निकालो। दूसरे मजहबोंमें-से पूजा मत निकालो, अपना जो सिद्धान्त है कि सिवाय भगवान्के और कोई चीज नहीं है—वहाँसे पूजा निकालो—अब बताते हैं मैं क्या-क्या हूँ—

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥

इस श्लोकमें आठ बार अहं है—यह भगवान्के अहंको देखो—मैं तुम्हारे सामने हूँ देखो मुझे, देख लो मुझे। वैदिक रीतिसे कोई संकल्पपूर्वक यज्ञ करते हैं तो उस यज्ञके रूपमें मैं हूँ।

पहचान नहीं है भगवान्से, यही दोष है। पहचान हो तो देखो सब भगवान्। पिता, मातामें भी मैं ही हूँ। सबका माता सबका पिता। अब देखो जो माता है सो पिता नहीं है जो पिता है सो माता नहीं है। दोनों अलग-अलग होते हैं और भगवान् वह है जो माताका स्नेह और पिताकी शिक्षा, दोनों लेकर प्रकट हैं।

•

प्रवचन : ६

अपनी चित्तवृत्ति भगवदाकार होनी चाहिए। किस निमित्तसे होती है इसपर विचार करनेका कुछ अधिक कारण नहीं है। बाहर निमित्त कोई भी हो, पर हमारे हृदयकी वृत्ति भगवदाकार होनी चाहिए। क्योंकि निमित्त तो बाहर रह जाता है और वृत्ति तो हमसे लगके बनती है। मनमें यदि भगवान् हों तो बाहर कैसे भी आयें।

एक महात्मा थे, उनकी ओर काला नाग बढ़ा आ रहा था। मौत सामने थी, वह कहते हैं—ओ हो, प्यारेसे बिछुड़े बहुत दिन हो गया। उन्होंने हमको बुलानेके लिए अपना दूत भेजा है। एक महात्माके ऊपर शेर झपटा तो बोले कि यह देह हमको बहुत तकलीफ दे रहा था। बार-बार अपनेमें खींच लेता था। इसका अध्यास बड़ा प्रबल हो गया था। भगवान्‌ने इसे भेजा है। अब यह हमारे शरीरको खा जायेगा। अध्यासका कोई कारण नहीं रहेगा।

अपनी दृष्टि यदि ठीक हो तो रणमें, वनमें, जनसमूहमें, शत्रुमें, मित्रमें, किसीसे भी मिलके, किसीको भी देखके हम अपने हृदयको सद्भाव-सम्पन्न रख सकते हैं। थोड़ी जागरुकता चाहिए, सजग रहें तो सभी रूपोंमें भगवान्‌का दर्शन हो सकता है। आराधना करनेवाले कोई एक होकर आराधना करते हैं, कोई अलग रहकर आराधना करते हैं। कोई गणेश, गौरी, शिव, विष्णु, सूर्य इन देवताओंकी आराधना करते हैं। आराधना हम किस नामकी कर रहे हैं और किस रूपकी कर रहे हैं यह महत्त्वपूर्ण नहीं है। महत्त्वपूर्ण

यह है कि उस रूपको देखकर हमारे हृदयमें भगवान्का स्मरण होता है कि नहीं—भगवदाकार वृत्ति होती है कि नहीं।

जो लोग शिव और विष्णुको ही लेकर लड़ पड़ते हैं, उनके मनमें भगवदाकार वृत्ति नहीं होती है। जो निराकार साकारको लेकर लड़ पड़ते हैं उनके मनमें भी भगवदाकार वृत्ति नहीं होगी। भगवान् तो निराकार भी है, साकार भी है, निर्गुण भी है, सगुण भी है, शिव भी है, विष्णु भी है। काली पोशाक पहननेसे यह नहीं है, कि सफेद पोशाक पहननेसे यह नहीं—ऐसा नहीं है। जिसको काली पोशाक अच्छी लगती है, उसके लिए भगवान्ने काली पहन ली और जिसको सफेद पोशाक अच्छी लगती है, उसके लिए सफेद पहन ली।

हम तो कइयोंके बारेमें जानते हैं कि वे दूसरेसे पूछते हैं कि आपको कौन-सी पोशाक पसन्द है, हम वही पहनकर आपके सामने आवेंगे। ऐसे पूछते हैं। तबतक यही वस्त्र पहनेंगे जो तुमको भावे। 'जा भेसा म्हारा साइं रीझे सोई भेष धरूँगी।' यहाँ मीराका उदार हृदय है। तो भगवान्का हृदय तो इससे कोटि-कोटि गुना उदार है। जिस भक्तके सामने आना होता है, वैसी पोशाक पहन लेते हैं। वैसा मेकअप कर लेते हैं। पर हैं तो भगवान् ही। आप उनको पहचान लो तो गोरे रूपमें भी पहचानोगे, काले रूपमें भी पहचानोगे। वह हाथी-सा वेष धारण करके आवेंगे, वहाँ भी पहचानोगे। असलमें अपने हृदयमें भगवान्की पहचान होनी चाहिए। इसलिए बात कही गयी कि बहुधा, अनेक रूपमें भगवान्की उपासना लोग करते हैं, यहाँतक कि सम्पूर्ण विश्वके रूपमें उपासना करते हैं। आप जानते हैं—'सर्वं समाप्नोषि ततोसि सर्वः। आप सबमें व्यापक हैं इसलिए सर्वरूप हैं।

व्यापकताका अर्थ वेदान्तमें दूसरा होता है। दूसरे दर्शनोंमें मूर्त संयोगित कर्मको व्यापकत्व होता है। जैसे लोहेका गोला आगमें डाल दिया और आग लोहेमें व्यापक हो गयी। जब ठण्डा हो गया तो लोहेका गोला लोहेके गया लोहेमें, आग गयी आगमें। पर वेदान्तमें व्यापकका अर्थ होता है—जैसे गोलेमें लोहा हो। लम्बे औजारमें भी लोहा है। छड़में भी लोहा है और गोलमें भी लोहा है। तो जैसे लोहेसे बने किसी भी आकारमें लोहा व्याप्त है ऐसे ब्रह्ममें बने हुए किसी भी आकारमें भगवान् व्याप्त है। उपादानके रूपमें भगवान् है यह वेदान्तका मत है। मायासे आकार दीखते हैं। उपादान—मसाला सारा-का-सारा भगवान् है। 'सर्वं समाप्नोषि ततोसि सर्वः'।

अब आओ भिन्न-भिन्न लोग कैसे भिन्न-भिन्न रीतिसे भगवान्की आराधना करते हैं, इसपर एक दृष्टि डालें। असलमें भगवान्की आराधना बहुत विलक्षण है। सर्वतोमुख हैं भगवान्, जैसे किसीको कुछ खिलाते हैं—हम मोहनको खिलाते हैं कि सोहनको, यह भेद हमारे मनमें होता है। लेकिन हम भगवान्के मुँहमें ग्रास डालते हैं, भगवान्को खिला रहे हैं यह उपासनाकी पद्धति दूसरी है। सर्वरूपमें भगवान् हैं। सर्वरूपमें उनकी सेवा है। हमारे भगवान् हमलोगोंसे बहुत दूर नहीं हैं। उनके मिलनेमें कोई देर नहीं है। वे कोई दूसरे नहीं। न दूरी है, न देरी है, न दूसरापन है। केवल पहचानका ही फरक है। पहचान लिया सो सब यहीं है।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥

भगवान् कहते हैं कि जब कोई संकल्पपूर्वक देवताका ध्यान करना है तो जिस देवताकी पूजा करनी हो तो उसका ध्यान करो

और उसमें भगवान्‌को देखो। 'अग्निर्देवता, वायुर्देवता' अग्नि भी देवता है—अग्नि अन्तर्यामी भगवान्, वायु अन्तर्यामी भगवान्—स्त्री अन्तर्यामी भगवान्, पुरुष अन्तर्यामी भगवान्, वृक्ष अन्तर्यामी भगवान्। संकल्प करके जिस देवताका ध्यान करते हो, उस क्रतुके रूपमें स्वयं भगवान् वहाँ आते हैं। और श्रौतस्मृति पद्धतिसे, जैसा वेदमें लिखा है, जैसा श्रुतिशास्त्रमें लिखा है, उसके अनुसार यदि यजन करते हो, यज्ञ करते हो तो उस यज्ञके रूपमें भगवान् केवल यज्ञशालामें ही न हीं हैं। अपने हृदयमें भी हैं।

इसी देहमें अधियज्ञके रूपमें भगवान् हैं। जब तुम प्रेमसे किसीके शरीरपर हाथ रखते हो और उसको सुख होता है, यह यज्ञ है। यदि अपनी आँखोंमें प्रेम और आनन्दसे किसीको देखते हो तो वह भी यज्ञ है। यदि प्रेमसे किसीसे मिलने जाते हो, तो वह तुम्हारा चलना भी यज्ञ है। बोलना यज्ञ है, देखना यज्ञ है, कोई अपनी बात सुनानेके लिए आया और प्रेमसे उसको सुन लिया—उसको सन्तोष हुआ कि इन्होंने हमारी बात बड़े प्रेमसे सुन ली तो यह भी यज्ञ है।

यज्ञ माने जो कुछ तुम्हारे पास है—अच्छा, बुरा, अच्छे-से-अच्छा, दूसरेके काममें आये, भगवान्‌को अर्पित करो। यह नहीं कि लखपतिने कहा कि हमारा शरीर जब पहलवान हो जायेगा तब हम आपकी मालिस करेंगे। इसका नाम भक्ति नहीं है और पहलवानने कहा कि जब हमारे पास करोड़ रुपये हो जायेंगे तब हम आपकी सेवा करेंगे। इसका नाम सेवा नहीं है। जो तुम्हारे पास भगवान्‌ने दिया है, उसीके द्वारा सेवा करो। बोले, अभी तो हमको लिखना नहीं आता महाराज, जब लिखना आजायेगा तब हम आपके बारेमें बहुत बढ़िया कविता बनाकर आपकी सेवा करेंगे।

अरे भाई, अब इस जनममें कवि बनोगे कि नहीं बनोगे वह हमको मालूम नहीं है पर तुम्हारी सेवा भी तो रह जायेगी।

यज्ञ माने होता है—जैसे सूर्य, चन्द्रमा, वायु, अग्नि ये आजान (जन्मसे) देवता हैं। पृथिवी, जल जन्मसे देवता हैं। क्योंकि ये निरन्तर यज्ञ करते रहते हैं। सबका पालन-पोषण करते हैं, सबको तर करते हैं, सबको गरमी देते हैं, सबको हवा देते हैं, सबको प्रकाश देते हैं। 'अभियज्ञोहमेवात्र।' तुम्हारे हृदयमें जो यज्ञका अन्तर्यामी है वह बैठा हुआ है, तुम्हारे शरीरमें ही है। तुम भी देवताकी तरह यज्ञ करो।

'अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।' पितरोंके लिए जो कुछ करते हैं—पितरोंके अन्नका नाम 'स्वधा' है। बहुत अद्भुत है। देखो जिसके मरनेपर भी सेवा करनी पड़ती है, उसकी जीवनकालमें ही सेवा करनी चाहिए। मृत्यु होनेपर श्राद्ध करते हैं, तर्पण करते हैं, अन्त्येष्टि-संस्कार करते हैं, वर्षी करते हैं, तीर्थ श्राद्ध करते हैं। जिनकी मृत्यु हो जानेके बाद भी सेवा करना अपना कर्तव्य है, जीवन-कालमें उनकी कितनी सेवा करनी चाहिए। सेवा करो नहीं तो पछताओगे, हाय-हाय! हमने माताकी सेवा नहीं की। पिताको सेवा नहीं की। आचार्यकी सेवा नहीं की। 'मातृ देवो भव! पितृ देवो भव! आचार्य देवो भव।' और तुम्हारे पास जो इकट्ठा हुआ है, उसमें पिताने कम-से-कम तुम्हें जन्म तो दिया है न! माताने तुम्हें गर्भमें धारण तो किया है न! उन्होंने तुमको पढ़ाया-लिखाया तो है। पालन-पोषण तो किया है। उनके ऋणसे उऋण कैसे हो सकते हो, यदि उनकी सेवा नहीं करोगे। इसमें अपने लिये त्याग, दान करनेका मौका मिलता है। कैसे-कैसे धन आया है कुछ पता है? लेते समय तो सोचते नहीं कि लेना चाहिए कि

नहीं, उचित है कि अनुचित। इसमें दूसरेको तकलीफ होती है कि नहीं। लेते समय तो नहीं सोचते हैं फिर देते समय क्यों सोचते हैं कि किसको देना चाहिए—किसको नहीं? जहाँ देनेका मौका मिले वहाँ बोलो—भाई सौभाग्यका क्षण है। भगवान्‌की दी हुई चीज भगवान्‌को दे रहे हैं। किसी मनुष्यको नहीं दिया जाता।

जिसने दिया है, उसीको दिया जाता है और देनेवाला तो एक ही है। इसलिए ईश्वर-बुद्धिसे देना चाहिए। इससे त्याग, वैराग्य, सहिष्णुता आती है। इससे मरनेके बाद जीवात्मा रहता है तो हम भी मरनेके बाद रहेंगे यह आस्था बनती है और यह आस्था बननेसे मरनेके बाद आत्मा रहती है यह भावना होगी। तो हमलोग पाप करेंगे तो नरकमें जायेंगे। पुण्य करेंगे तो स्वर्गमें जायेंगे। उत्तम परिस्थितिमें जन्म होगा। जैसे लोग बीमा कराते हैं। यदि यह आस्था हो जावे कि मरनेके बाद भी हमारी आत्मा रहती है तो पाप नहीं करेंगे, पुण्य करेंगे। बुरा काम नहीं करेंगे, अच्छा काम करेंगे। क्योंकि ये कर्म जो हम करते हैं, उस कर्मसे एक अपूर्व उत्पन्न होता है जो पहले नहीं था—कर्म जो होता है वह नयी वस्तु बनानेके लिए कर्म होता है। तुम्हारे अन्तःकरणमें जिस वस्तुके भोगनेकी, पानेकी, बनानेकी शक्ति नहीं थी, यदि तुम अच्छा काम करोगे तो वह शक्ति तुम्हारे अन्तःकरणमें आजायेगी। कठोपनिषद्‌का तो प्रश्न ही यही है कि मरनेके बाद यह आत्मा है कि नहीं है? जब है में आस्था होगी तब उसपर विचार होगा। विचार होगा तो ज्ञान हो जायेगा। इसलिए पितरोंके लिए 'स्वधा', देवताओंके लिए 'स्वाहा' कहा है। जो लोग अग्निहोत्र करते हैं उन्हें प्रत्यक्ष लाभ होता है। सचमुचका मन्त्रोच्चारण करते हैं और अग्निके पासमें बैठते हैं और आहुति देते हैं, व्रत नियम लेते हैं, उनका जीवन प्रायः स्वस्थ होता है,

निरोग होता है क्योंकि रक्तका संचार उनका बिलकुल ठीक बनता रहता है और उनका कोलेस्टॉल कभी नहीं बढ़ेगा। यदि घी नहीं खायें तो नहीं बढ़ेगा। क्योंकि गरमी शरीरमें पहुँचती है। ये, अब आगमें डालनेके बदले खुद ही अपने शरीरमें डाल लें तो बात दूसरी है।

जबसे हविष्यके सम्बन्धमें लोगोंको अनास्था हो गयी तबसे यह भी आवश्यकता मिट गयी कि यज्ञमें हविष्य चाहिए गायका। यज्ञमें गायका घी चाहिए, दूध चाहिए, दही चाहिए, मक्खन चाहिए, मलाई चाहिए। तबसे गायकी भी आवश्यकता नहीं रही। यदि यज्ञकी प्रथा होती और हविष्यकी आवश्यकता बनी रहती तो गाय भी होती।

अब देखो 'अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।' यह औषध जो है यह मनुष्योंका अन्न है। यह जौ है, गेहूँ है, मटर है, चना है। वृक्ष वह होता है जो काटनेपर नष्ट होता है और औषधि वह होती है जो एकबार फल देकर नष्ट हो जाती है। जैसे गेहूँ है, मटर है, चना है, जौ है, अरहर है, मूंग है, उड़द है, ज्वार है, बाजरा है, मक्का है एकबार फल देनेके बाद फिर रहता नहीं! इनको बोलते हैं औषधि।

अमरकोशका वचन है—जो एकबार पका फल देकर और नहीं रहते हैं उनका नाम औषध। यह किसके लिए है? यह मनुष्यका अन्न है। यह औषधि है। शंकराचार्यने लिखा है अन्नको आप भोगके लिए, स्वादके लिए मत खाइये। यह हमारे जीवनको स्वस्थ, निर्विकार रखनेके लिए आवश्यक है, जो हम खाते हैं—औषधम्। रोज औषधके रूपमें अन्नका सेवन करो, जिससे उसका परिपाक ठीक हो जावे और जीवनका ठीक-ठीक निर्वाह चले। औषध

शब्दका प्रयोग करते हुए बताया कि जिससे हमारे शरीरके दोषोंकी निवृत्ति हो और गुणोंकी वृद्धि हो, उसका नाम औषध। चरकने स्वास्थ्यका जो लक्षण बताया है—आरोग्य क्या है? स्वास्थ्य-संरक्षणं' अपने स्वास्थ्यकी रक्षा हो और जो कफ, वात, पित्तके दोष विषम होते हैं, उग्र होते हैं, उनको शान्त रखे। भोजन वह है जो कफ, वात, पित्तमें किसीको तीव्र न होने दे। ऐसा भोजन किया कि कफ बढ़ गया—सरदी हो गयी, छातीमें रोग हो गये, ऐसा भोजन किया कि पित्त भड़क गया—ऐसा भोजन किया कि वायु बढ़ गयी। भोजन औषधिके रूपमें होना चाहिए। मनुष्यके अन्नका नाम औषध है। उसकी सुगन्ध भी नाकमें अच्छी आनी चाहिए। देखनेमें भी अच्छा लगना चाहिए। जीभको भी अच्छा लगना चाहिए, परन्तु वह हमारे लिये हितकारी हो, यह आवश्यक है। उसमें सौरभ्य हो नाकके लिए, सौन्दर्य हो आँखके लिए और स्वाद हो जीभके लिए और सौहृद्य हो हृदयके लिए। औषध रूपसे अन्नका भोजन करना चाहिए। भोगके लिए भोजन न हो।

इसी प्रकार यह स्त्री-पुरुषका विवाह भी भोगके लिए नहीं है। अपनी काम-वासनाके नियन्त्रणके लिए है। अनेक स्त्री, अनेक पुरुषोंमें बिखर न जाय। नहीं तो कभी तृप्ति नहीं होगी। 'स्वधाहमहमौषधम् मन्त्रोहमहमेवाज्यं'। मन्त्र मैं ही हूँ। भगवान् कहते हैं 'अन्न भी मैं ही हूँ' और 'अन्न पचानेवाला भी मैं ही हूँ।'

तैत्तरीय उपनिषद्‌में कहा है—'अन्नं ब्रह्म' अन्न ब्रह्म है, अन्नसे ही मनुष्यकी उत्पत्ति होती है। उसीमें स्थिति होती है। उसीमें प्रलय होता है। अन्न ब्रह्म है। चाहे जैसे हो अपने घरमें अन्न हमेशा बना रहे। भोजनके समय कोई आ जावे तो उसको

भूखा नहीं लौटाना। यह अपने जीवनमें व्रत लेना चाहिए। जहाँ अतिथि भोजनके समय आकर घरसे लौटा—तो समझो कि घरमें आनेवाला जो अन्न है उसको भी वह लेकर लौट जाता है। अन्न ब्रह्म है, यह बात दुनियाके किसी मजहबमें नहीं है। आचार-मूलक जो धर्म हैं, जिनको चलानेवाले कोई आचार्य हैं या अपौरुषेय वेद, इनको छोड़कर जो किताबी धर्म हैं—पुत्रमूलक धर्म हैं, सन्देशहारक धर्म है उनमें यह बात नहीं कही गयी है। हमारा सनातन धर्म तो 'अपौरुषेय' वेदमूलक-ज्ञानमूलक धर्म है।

कीड़े मारकर तो अन्न पैदा हुआ, कीड़े मारकर तो पकाया गया, वह अन्न धरतीमें पैदा होता है उसमें पशुका भाग होता है, पक्षीका भाग होता है, प्राणिमात्रका भाग होता है। तुम अकेले खाये जा रहे हो। अरे बाबा! जिसका-जिसका हिस्सा है, उनकी भी तो याद कर लो। वेदमें, शास्त्रमें मन्त्र होते हैं—मन्त्रसे हमारा मन बहिर्मुखसे अन्तर्मुख होता है। मन्त्रमें बड़ी शक्ति होती है। गोस्वामी-जीने तोसाबर मन्त्रकी महिमा बतायी है--जो वेदमें है, शास्त्रमें है, वह पुराणमें है, मजहबमें है, वे मन्त्र तो हैं ही। उनकी महिमाका तो कहना ही क्या? भागवतके ग्यारहवें स्कन्धमें है—जो भगवान्‌का रूप, भगवान्‌का नाम लोकभाषामें लोग गाते हैं—जगह-जगहकी भाषामें बोलते हैं—उससे भी भगवान्‌का कीर्तन करो, ऐसा कहा गया है।

जिस सिद्ध पुरुषने जो शब्द बोल दिया है उस शब्दमें शक्ति होती है। यह मत पूछो कि किस पोथीमें यह लिखा है। यह देखो कि सिद्ध पुरुषने उसका उच्चारण किया है कि नहीं!

वे भले ही उपदेश न करते हों परन्तु उस सन्तकी सेवा करो। बोल-चालमें वे स्वछन्द बोलते हैं। उनकी उस स्वच्छन्द वाणीका

भी नाम शास्त्र रखा जाता है। उसीसे शास्त्र बनते हैं। ये जो वेदके मन्त्र हैं, तन्त्रके मन्त्र है, शास्त्रके मन्त्र हैं, पुराणके मन्त्र हैं, सिद्ध पुरुषोंके बोले हुए मन्त्र हैं और मन्त्रोंमें कौन है ? उसमें भगवान्‌की शक्ति बैठी हुई है। 'मन्त्रोहम्'—मन्त्र बोलकर हम अपने कर्तव्य कर्म करते हैं, उनके अर्थज्ञानकी वेदमें आवश्यकता नहीं है। वैदिक लोग इसको जानते हैं। हमको कई लोग कहते हैं—महाराज समझमें नहीं आता, तो वह हमारे किस कामका ? भाई, तुम्हारी समझ ही सबसे बड़ी है ? उस मन्त्रमें भी एक शक्ति है। वेदकी व्याख्या करनेवालोंमें एक विभाग ऐसा है और वह बड़े-बड़ोंका है—जैसे कुमारिल भट्ट—माने मीमांसकोंमें जो मूर्धन्य हैं सर्वोपरि, वे कहते हैं कि देवता कहीं रहते नहीं हैं। जब हम किसी मन्त्रका उच्चारण करते हैं तो उस मन्त्रमें 'इदं जुहोमि—इन्द्राय स्वाहा'—ऐसे बोला जाता है। शब्दकी शक्तिसे, शब्दके धक्केसे—तुम्हारे दिलमें उसका धक्का लगा और उससे देवता पैदा होता है। और जितनी जगह मन्त्र बोला जाता है, उतनी ही जगह पैदा होता है—केवल एक देवता नहीं है कि एकके बुलानेपर स्वर्गसे आ जाये।

शब्दको भी देवता बोलते हैं। इसलिए मन्त्रमें अद्भुत शक्ति मानी जानी है। चाहे हमलोग कुछ समझें या न समझें। तान्त्रिक पद्धतिमें जो 'क्रीं, क्लीं, ह्रीं, श्रीं' आदि बोलते हैं—इनका अर्थ होता है, पर जाननेकी आवश्यकता नहीं होती। मन्त्रकी शक्तिसे ही सारा कल्याण होता है। मन्त्र क्या है? मैं हूँ—भगवान्‌ने कहा। कोई मन्त्रकी ही आराधना करते हैं। 'मन्त्रोहमहमेवाज्यं' जो आहुति देते हैं वह आज्य, घृत मैं ही हूँ।

बाप-दादाने बचपनमें सिखाया था कि जब भोजन करो तो भोजनके समय पहले ये मन्त्र बोलो। उस समय तो हमको पता भी

नहीं था कि गीता क्या होती है और यह गीताका श्लोक है। बचपनमें जैसे बच्चोंको श्लोक सिखाते हैं न ! ऐसे ही यह सिखाया था। हाथमें जल लो बोलो--

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥

आपका जो हविष्य है--ऐसे भोजन करनेके पहले पञ्चाहुति बतायी गयी। मैं अपने खानेके लिए मुँहमें नहीं डालता हूँ—मैं नहीं खाता हूँ—'प्राणाय स्वाहाः।' ये प्राणका भोजन है। आत्माका भोजन नहीं है। 'प्राणाय स्वाहा। अपानाय स्वाहा। व्यानाय स्वाहा। उदानाय स्वाहा। समानाय स्वाहाः।' ये पाँच आहुतियाँ दिया करते थे। 'कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा।' भगवान्का स्मरण करके, समर्पण करके, भीतर नन्हें-से भगवान् बैठे हाथ फैला देते हैं, हम जो ग्रास लेते हैं तो हाथ फैलाकर अपने मुँहमें डाल लेते हैं। 'अहं वैश्वानरः'।

वही भोक्ता है। 'मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्'। ताप और गति—अग्नि और वायु ये देवता हैं। इनके द्वारा यक्षको देखा जा सकता है। यक्षके रूपमें, विराट्के रूपमें जो परब्रह्म परमात्मा है, उनको दिखानेका सामर्थ्य किसमें है ? तापमें और वायुमें। आप गतिकी परीक्षा करके और प्राणायाम आदिके द्वारा अपने शरीरमें ऊष्माको बढ़ाकर, प्राणवायुको स्थिर करके यक्षका दर्शन कर सकते हैं। परन्तु यक्षको पहचान नहीं सकते। उसकी चेतनता पहचान नहीं सकते। जब इन्द्र आवेगा—कर्मका देवता—कर्म करके आप अन्तःकरण शुद्ध करेंगे तो शुद्ध अन्तःकरणसे पहले ब्रह्मविद्याका दर्शन होगा। ब्रह्मविद्याका दर्शन होनेपर ब्रह्मका

साक्षत्कार होगा। 'अग्रे नयति' जो मनुष्यको आगे बढ़ावे उसका नाम अग्नि है। सारे वेद अग्निसे प्रारम्भ होते हैं।

'अग्निमीले पुरोहितं'—यजुर्वेद प्रारम्भ होता है। आपके जितने कल-कारखाने चलते हैं—जितने हीरा आदि बनते हैं—जितनी फैक्टरियाँ चलती हैं यह अग्नि देवताकी कृपा है। अग्निके रूपमें भगवान् आते हैं। 'अहं अग्निः, अहं हुतम्' जो अग्निमें डालते हैं, हवन करते हैं, जो उसका इंधन है, सो भी भगवान् ही हैं। हविष्य भी भगवान्, मन्त्र भी भगवान्, अग्नि भी भगवान् और उनमें जो हवन करते हैं सो भी भगवान्। 'पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।' किसी रूपसे उपासना करो, मन्त्रके रूपमें, यज्ञके रूपमें, स्वधाके रूपमें, निमित्त कोई भी हो, बुद्धि ब्रह्माकार होवे, ब्रह्मसे सम्पन्न हो।

'पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।' संस्कृत भाषामें पिता शब्दका अर्थ पैदा करनेवाला नहीं होता। 'पाति इति पिता।' पालन करनेवालेका नाम पिता है। जो रक्षा करे सो पति और जो रक्षा करे सो पिता। बोले दोनोंमें प्रत्ययका भेद है। धातु एक ही है। एक ही धातुसे दोनों बनते हैं—जैसे स्त्रीके लिए कुमारावस्थामें पिता रक्षक है और युवावस्थामें पति रक्षक है। रक्षणरूप साधर्म्य होनेपर भी प्रत्ययका भेद है। एकके प्रति श्रद्धा है, स्नेह है। एकके वात्सल्यका उपभोग करते हैं और एकके प्रेमका उपभोग करते हैं। बल्कि पिताके प्रति तो एकांगी प्रेम होना चाहिए। पुत्र चाहे प्रेम करे चाहे न करे—पिता प्रेम करता ही है, यह मान लेना चाहिए और पतिसे परस्पर प्रेम होता है। वहाँ एकांगी प्रेम नहीं चलता है। वहाँ चातक पपीहेका प्रेम नहीं चलता। स्वामी और दासमें चातक पपीहेका प्रेम चलता है। पती-पत्नीके प्रेममें परस्पर

प्रेम चलता है। 'दोऊ चकोर दोऊ चन्दा'—दोनों चकोर हैं, दोनों ही चन्द्रमा हैं।

'पिताहमस्य जगतः'। माता वात्सल्यमयी है, उसने गर्भमें निरपेक्ष भावसे धारण किया है। यह तो पिता नहीं करता है। पिता त्यागप्रधान होता है। उसने तो अपनी शरीरकी धातु, बीज-वपन कर दिया। लेकिन वह माता है जिसने महीनोंतक, बरसोंतक अपने गर्भमें धारण करके और फिर अंकुरको प्रकट किया। प्रसिद्ध तो माता ही करती है। माता माने जो हमको जाहिर कर दे। गुप्तको प्रकट करे उसका नाम माता।

'पिताहमस्य जगतो माता धाता'—अब देखो—इसमें एक तो पिता-पितामहकी जोड़ी है, और एक माता और धाताकी जोड़ी है। माताने प्रकट किया और दूध पिलानेवाला मान्धाता होता है। मान्धाता शब्दका अर्थ यही है। इस बच्चेकी माँ तो नहीं रही। दूध कौन पिलावेगा? बोले धाता—धाई। माँके रहते हुए बच्चेको माँका दूध मिलना चाहिए। आपको जवानी, भोग, सौन्दर्य चाहिए परन्तु आपका पुत्र आपके संस्कारसे युक्त हो, आपका आज्ञाकारी हो, वंश-परम्पराका पालन-पोषण करे, इसके लिए आप अपना दूध उसके अन्दर नहीं डालेंगे तो उसके संस्कार कहाँसे बनेंगे? माता भी भगवान्, पिता भी भगवान्, धाता भी भगवान्, पितामह भी भगवान्—बोले ठीक है भाई; यह तो जन्मकी और रक्षाकी बात हुई अब हम जब बुद्धिमान् हो गये हैं और जानना चाहते हैं तो जाननेकी वस्तु क्या है? वेद्यं—वेद्य भी भगवान् हैं।

आप जानते हैं—गीतामें वेद्यपर बड़ा जोर है। आप जानिये, जानिये, जानिये। बुद्धिकी इतनी महिमा है गीतामें कि संसारकी

किसी मजहवी किताबमें बुद्धिकी ऐसी महिमा नहीं है। जानिये— आप परमात्माको जानिये और जितने मजहब हैं सब श्रद्धा-प्रधान हैं। क्योंकि वे परोक्षमें श्रद्धा करवाते हैं जो हमारी आँखोंसे ओझल है। हमारी आँखोंसे जो दूर है, उसमें श्रद्धा विश्वास करवाते हैं। हमारा जो वैदिक दर्शन है वह केवल मजहब नहीं है। वह केवल मिथ्या कल्पनापर आधारित नहीं है मायथोलाजी नहीं है और जितने मजहब हैं वे मायथोलॉजीके आधारपर—मायथोलॉजी माने संस्कृतका शब्द है—मिथ्या, वह मिथ्यापर आधारित नहीं है। यह दर्शन है, दृष्टि है—'वेदैः सर्वैः अहमेव वेद्यः।' सारे वेद मेरे ज्ञानके साधन हैं। 'वेदैः अहमेव वेद्यः' मैं वेदोंसे ही जाना जाता हूँ।

मैं ही जानने योग्य हूँ और 'अहं वेद्यैव' हमको जानना ही चाहिए। चार बात कही उसमें—सारे वेदका तात्पर्य मुझमें है। वेदोंके द्वारा ही मैं जाना जाता हूँ—मैं ही जाना जाता हूँ और मुझे जानना ही चाहिए।

पवित्र कौन है ? मैं ही पवित्र हूँ—'अन्तःकरणकी शुद्धि भी मैं ही हूँ। जब मैं ही अन्तःकरणमें रहता हूँ तब मेरा ज्ञान होता है तो शुद्धि भी मैं हूँ। शुद्धि कैसे होती है ? ॐ कारसे भगवान्के नामका जप करो। ॐकार नाममात्रका उपलक्षण है। भगवान्का नाम लो। ॐकार—किसी न किसी रूपमें सर्व धर्ममें स्वीकार है। जैन लोग ॐनमो अरिहन्तारं बोलते हैं। बौद्ध लोग ॐ मणिपद्मे हुम् बोलते हैं। बौद्ध हो कि जैन हो, मुसलमानोंके तो ॐ भी है और दक्षिण कालीका क्रीं भी है। उनके करीम बोलते हैं और हमारा जो ह्रीं है—हरी है हर है—उसको रहीम बोलते हैं। हमारी प्रार्थनाको प्रेअर बोलते हैं। हमारे नमस्को नमाज बोलते हैं।

मन्त्र होते हैं उनको श्रद्धा बोलते हैं। चार भाग होते हैं मन्त्रमें, उसको ऋग्वेद बोलते हैं। और जिनमें गीति—गा-गाकर जो मन्त्र बोले जा सकते हैं—गीति-प्रधान वे साम होते हैं और जिनमें गीतकी और पाद-बन्धनकी विशेषता नहीं होती है, गद्यके समान जो बोले जाते हैं उनका नाम यजुष् होता है। 'ऋक् साम यजुरेव च।' 'च'से अथर्वणकी व्यवस्था भी ग्रहण करलो।

ये सारे वेद कौन हैं? भगवान् बोले मैं हूँ। मैं ही वेद्य हूँ। मैं ही पवित्र हूँ। मैं ही ॐकार हूँ। मैं ही यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद हूँ। 'गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।' देखो भगवान् ही भगवान् हैं। मुक्ति मिलेगी कहाँ? मुक्ति कौन है? बोले भगवान्। क्यों सोचते हो? यह तो क्रम ही है बन्धनका। कहीं कोई आबद्ध नहीं है। अपना मन ही बँधता है। अपना मन ही छोड़ता है।' 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।' मन ही है, कहो मेरा, कहो तेरा, कहो—बँध गये। मेरा नहीं, तेरा नहीं—तेरा मैं नहीं, मेरा तू नहीं—सब छूट गये। 'मानि मानि बन्धनमें आयो।' गति कौन है? साक्षात् परमात्मा है।

अन्तमें तुम्हें कौन मिलेगा? अन्तमें परमात्मा मिलेंगे। यह दुनिया नहीं मिलेगी, दुनियाकी कोई चीज नहीं मिलेगी। इस समय तुम्हारा धारण-पोषण कौन कर रहा है? भर्ता। जबतक अपने पास बहुत सारी चीजें होती हैं, बहुत सेवक होते हैं, तबतक मालूम पड़ता है, हमारी सेवा करते हैं। जबतक हमारे पास बहुत सामग्री होती है तबतक मालूम पड़ता है मैं ही खा-पीकर जीता हूँ किन्तु जिस दिन न अपने पास कोई रहता है सेवा करनेवाला और न कुछ खानेको रहता है, उस दिन आप देखो चमत्कार!

उस दिन भगवान् लाकर खिलाते हैं। उस दिन भगवान् सेवा करते हैं।

यह बात मैं किताबमें-से पढ़कर नहीं बोल रहा हूँ। मेरे जीवनमें ऐसे अनेक अवसर आये हैं जब खानेको कुछ नहीं रहा है और भगवान्ने खिलाया है। जब हमारे पास कोई साथी नहीं रहा है तब भगवान्ने साथीका काम किया है। यह केवल पढ़ी हुई बात नहीं है कि एकनाथके घरमें श्रीखण्डी बनकर भगवान् ७४ बरस रहे। जना बाईके साथ आकर चक्की पिसवायी। नाई बनकर किसीका पाँव दबाया। यह बात केवल कल्पना नहीं है, खयाली नहीं है, असलमें वे देखते रहते हैं, जहाँ उनके सिवाय हमारा कोई नहीं होता है, वहाँ स्पष्ट रूपसे भगवान् हमारी सहायता करते हैं।

'गतिर्भर्ताप्रभुः।' मालिक हैं—स्वामी हैं। हमको गलत काम करनेपर दण्ड भी देते हैं। अच्छा काम करनेपर पुरस्कार भी देते हैं। वह मालिक मालिक नहीं कि नौकरसे तश्तरी टूट गयी तो जुर्माना कर दिया—क्यों तोड़ा तुमने ? और उसने चोरसे बचा दिया तो कुछ नहीं। यह तो उसका कर्तव्य था। यदि तुम उसकी गलतीपर दण्ड देते हो तो उसकी अच्छाईपर उसको पुरस्कार भी देना चाहिए। अपना हाथ है। संस्कृतभाषामें नौकरको क्या बोलते हैं ? 'नो करः। करो न भवति।' वह हाथ नहीं है पर हाथका सब काम करता है। 'कर इव भवति।' वह हाथ नहीं है। हमारा हाथ सम्हालते हैं, वैसे ही उसको भी सम्हालना चाहिए। अपने पाँवको जैसे सम्हालते हैं वैसे उसको भी सम्हालना चाहिए। यह स्वामीका काम है। स्वामी हमको कैसे सम्हालता है ? जैसे अपने हाथको सम्हालता है। जैसे अपने मुँहको सम्हालता है वैसे

ब्राह्मणको सम्हालता है। जैसे अपने हाथको सम्हालता है वैसे क्षत्रियको सम्हालता है। जैसे अपने उरुको सम्हालता है, वैसे वैश्यको सम्हालता है। ईश्वर तो प्रभु है। सबका मालिक है।

'गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी'—साक्षी माने देख-भाल करनेवाला। आपलोगोंने शायद बाईबिल पढ़ी हो—आजकल रामचरितमानस न पढ़ें पर बाईबिल तो देख लेते हैं। उसमें क्या है? हमारे दर्शनका ज्ञान हो कि न हो पर विदेशके दार्शनिक लोग क्या कहते हैं उसके बारेमें तो जानकारी होती ही है। बाईबिलमें कहा कि जैसे गड़रिया अपने भेड़ोंकी देख-भाल करता है और खास करके उस समय जब वह भटकने लगती हैं, उसी तरह ईश्वर हमारी देख-भाल करता है और जब हम भटकने लगते हैं, तब खासतौरसे देख-भाल करता है।

साक्षी माने 'साक्षात् पश्यति।' चारचक्षु नहीं है—राजा लोगोंके बारेमें है कि जो उनके गुप्तचर होते हैं और वे जगह-जगहसे उनको खबर देते रहते हैं। तो ईश्वरने गुप्तचर नहीं लगाया है। 'साक्षात् पश्यति।' अपनी आँखोसे देखता है। साक्षी माने जो बिना किसी औजारके, बिना किसी आदमीको अपने साथ जोड़े, स्वयं देखता है, उसको साक्षी बोलते हैं। 'साक्षात् द्रष्टरि संज्ञायाम्।' फिर भी साक्षी संज्ञा हो जाती है। सुनी-सुनायी बात नहीं है। ईश्वर देखता है। 'गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः।' हमारे हृदयमें निवास करता है। इसलिए उसका नाम निवास है। 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।' ईश्वरने अपने लिए घर नहीं बनाया कि हमारा तुमलोगोंसे अलग मकान है, रहनेकी जगह है। बोले—घरका कोई माँ-बाप हो और अपने पुत्रोंके घरमें अलग-

अलग रहने लगे, अपने लिए मकान न बनावे तो कभी किसी पुत्रके घरमें रहेगा, कभी किसी पुत्रके घरमें रहेगा। ईश्वरकी यह विशेषता है कि वह सब बच्चोंके घरमें हमेशा उनके साथ ही रहते हैं। यह स्नेह है उनका—'सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।' उसका निवास हमारा हृदय है। वाल्मीकिजीने कहा प्रभु वह स्थान बताओ जहाँ तुम नहीं हो। शरणं माने रक्षक—जहाँ रक्षापेक्षाका उदय हुआ वहाँ भगवान् रक्षा करते हैं। 'शरणं गृहरक्षितः'। शरण माने रक्षक। जो चाहता है प्रभुको, उसको हाथ पकड़कर अपने पास बुला लेते हैं और उसकी जैसी अभिलाषा होती है, उसको पूर्ण करते हैं। 'शरणं सुहृत्।' सुहृत् कौन है? जिसका दिल बढ़िया है।

भगवान्‌का वर्णन है 'मृदुर्दयालुः' एकसाथ बारह गुणोंका वर्णन है। वे यह अपेक्षा नहीं करते हैं कि हमने जीवको जन्म दिया, हमने जीवको पोषण दिया। हमने जीवको आँख दी, कान दिया, बुद्धि दी, दिल दिया, दिमाग दिया और नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा दी। अब उसके बदलेमें वह हमको कुछ दे। भगवान् अपने लिए कुछ नहीं चाहते हैं—देना, देना, देना। 'सुहृत्' क्योंकि उनका ऐसा सुन्दर हृदय है कि कौन क्या कर रहा है, इसको देखे बिना सब कुछ देते हैं। वे ऐसा नहीं कहते कि भाई, यह चोर है तो सूर्य और चन्द्रमाकी रोशनी इसके लिए बन्द कर दो। यह दुष्ट है तो इसको साँस लेनेके लिए हवा मत दो। कभी वह पानी काटता नहीं है। दुनियामें पानीका बिल न चुकाये तो पानी कट जायेगा। बिजलीका बिल मत चुकाओ तो बिजली कट जायेगी, पंखा नहीं चलेगा, रोशनी नहीं होगी और भगवान् न कभी अपनी हवा बन्द करता है और न रोशनी कभी बन्द करता है, न पानी बन्द करता है न धरतीपर रहनेसे मना करता है। सुहृत्! 'प्रत्युपकारं अनपेक्षः प्रभवः

प्रलयः स्थानम्'--हमारा जन्मस्थान वही है। 'प्रभवः' माने जन्मस्थान। प्रभवति अस्मात् इति प्रभवः। हमारा प्रलयस्थान भी वही है। वहींसे आये हैं, वहीं जाना पड़ेगा और तिष्ठति अस्मिन्, हम रह भी उसीमें रहे हैं। उसीमें हमारा जन्म हुआ है, उसीमें मिलना है, उसीमें रह रहे हैं। 'प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं'--हम जो कर्म करते हैं वह किस खजानेमें रखनेके लिए? ईश्वरके खजानेमें रखदो। निधान माने खजाना। हमारी निधि वही है। जो कुछ कमाई करो वह ईश्वरको समर्पित कर दो। यह सुरक्षित रहेगा। तुम जिस योनिमें रहोगे, जिस लोकमें रहोगे, जिस रूपमें रहोगे, कहाँ रहोगे! वह ऐसा बैंक नहीं है कि कभी फेल हो जावे। 'निधानं बीजम्'—जहाँ नाना प्रकारके रूप-नाम प्रकट होते हैं वह बीज वही है। यह जबतक सब जगत् रहता है, तबतक संसार रहता है। भगवान्के इस रूपमें कोई व्यय नहीं होता। कभी दिवाला नहीं निकलता। 'अव्ययं--न व्ययति इति अव्ययम्।'

•

प्रवचन : ७

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।

ये साधन जितने हैं वे सब मैं ही हूँ। चाहे वे जीवनके साधन हों, चाहे अन्य।

देवताके रूपमें मैं हूँ। जो हमारे जीवनमें कर्मानुष्ठान होता है उसके रूपमें स्वयं भगवान् ही प्रकट होते हैं। 'अहं क्रतुरहं यज्ञः। 'पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः' में यह बताया कि संसारमें जितने सम्बन्ध हैं उन सब सम्बन्धियोंके रूपमें भी मैं ही हूँ—साधनका रूप मत देखो, मुझे देखो और सम्बन्धीका रूप मत देखो, मुझे देखो। तब रागद्वेष नहीं होगा। फिर ये वैदिक ॐकार, ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद ये सब भी मैं ही हूँ। इसके बाद बताया कि परमेश्वर मैं ही हूँ। 'गतिर्भर्ता, प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सहृत्'। आपके लिए जो कुछ चाहिए वह सब मैं ही हूँ।

तोहि मोहि नाते अनेक मानिये जो भावे।
ज्यों-त्यों तुलसी कृपालु चरण शरण पावे॥

अपने मुँहसे कह दिया—मैं गति हूँ, भर्ता हूँ, प्रभु हूँ, निवास हूँ, प्रभव हूँ, प्रलय हूँ, स्थान हूँ, अव्यय बीजमें मैं ही सब कुछ हूँ। अब एक आश्वासन और देते हैं।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा,
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥
अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

आश्वासन क्या है कि कालचक्रमें यह सारा जगत् परिवर्तित हो रहा है। असलमें हमको ऐसा मालिक मिलना चाहिए, ऐसेसे सम्बन्ध होना चाहिए, ऐसा रिश्ता होना चाहिए जो कालकी गतिको अपनी मुट्ठीमें रखता हो। एक संवत्सरात्मक काल, एक वर्षका एक संवत्—उसमें चार-चार महीनेके तीन विभाग कर लिये। चार महीने गरमीके, चार महीने वर्षाके, चार महीने शीतके। बारह महीनेका एक वर्ष। वैसे महाभारतमें तो एक प्रश्न उठाया कि समयके अनुसार राजा बनता है कि राजाके अनुसार समय बनता है? बोले—यह संशय अपने मनमें मत रखो। जैसा राजा होता है वैसा समय नहीं आता है। पुराणोंमें कथा आती है कि जब दुष्ट राजा हुए तो दुर्भिक्ष पड़ गया। महामारी फैल गयी और श्रीमद्भागवतमें एक ब्राह्मणका बालक मरा था तो उसने सारा दोष राजाके सिर मढ़ दिया और अपने बच्चोंको ला-लाकर उनके दरवाजेपर पटक दिया। तो अर्जुनने कहा कि सचमुच यहाँ राजा नहीं, नपुंसक हैं, हम तुम्हारे पुत्रकी रक्षा करेंगे। ऐसे अनेक उदाहरण पुराणोंमें मिलते हैं कि संसारमें, जगत्में जो

परिस्थितियाँ बनती हैं उसमें शासकका मुख्य हाथ होता है। सम्पूर्ण विश्वका शासक कौन है ? सम्पूर्ण विश्वका शासक तो परमेश्वर है। ईश्वर शब्दका अर्थ संस्कृतमें होता है जो सबको अपने वशमें रखे।

सबको अपने शासनमें रखना जिसका शील स्वभाव है उसको ईश्वर बोलते हैं। यदि प्रशासन शिथिल हो जाये तो धर्म, कर्म, जीवन व्यवहार सब शिथिल हो जाता है। शुक्रनीति है, नीतिसार है, चाणक्यके सूत्र हैं—उनका कहना है यदि दुष्टोंको ठीक-ठीक दण्ड नहीं मिला, उनके साथ लिहाज किया गया तो संसारमें कोई मर्यादा, कोई व्यवस्था नहीं रहेगी। हमारे भगवान् कालदण्डको अपने हाथमें रखते हैं। यदि दुष्टको दण्ड न मिले, शिष्टको पुरस्कार न मिले तो कोई मर्यादाका पालन नहीं करेगा।

'तपाम्यहम्'—मैं ही संसारमें गरमी डालता हूँ। ग्रीष्मऋतु मैं ही लाता हूँ। 'अहं वर्षं निगृह्णामि।' मैं चार महीने तक वर्षाको रोक लेता हूँ। 'वर्षं उत्सृजामि च।' और वर्षा भी मैं ही करता हूँ। अर्थात् ये जो ऋतुएँ बदलती हैं, जो पक्ष, मास होता है, सौरमास होता है—सावनमास होता है, सौरमासके दो विभाग होते हैं, एक सायन एक निरयन। इन संवत्सरोंका नियन्त्रण कौन करता है ? भगवान्। जब वह चाहते हैं तब प्रलय होता है। जब चाहते हैं तब सृष्टि होती है। जब चाहते हैं तब स्थिति होती है। यह सृष्टि, स्थिति, प्रलयका विभाग भगवान्ने किसी दूसरेके हाथमें नहीं दिया। इसमें कोई उपप्रधानमन्त्री नहीं है। तीनों विभाग स्वयं देखते हैं। पोशाक अलग-अलग पहनते हैं। लाल पोशाक पहनकर सृष्टि करते हैं और साँवरी सलोनी पोशाक पहनकर स्थिति करते हैं। विष्णु भगवान्का श्वेतरूपमें भी वर्णन मिलता

है। 'शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम्।' चन्द्रमाके समान सफेद हैं। और एक ही कपड़ा भगवान्के पास नहीं है कि हमेशा पीताम्बर ही पहनें। कभी नीलाम्बर पहनते हैं। कभी श्वेताम्बर पहनते हैं। कभी रक्ताम्बर पहनते हैं।

सृष्टि, स्थिति, प्रलयका नियन्त्रण परमेश्वरके हाथमें रहता है। ब्रह्मा, विष्णु, शिवकी पोशाक ही तीन है। वेश-भूषा ही तीन है। ईश्वर तीन नहीं है। 'जगद्-व्यापारवर्ज्यम्।' ब्रह्मसूत्रका यह सूत्र है। बल्कि हमारे रामानुजसम्प्रदायके वैष्णव लोग तो ऐसा मानते हैं कि लक्ष्मीजीके हाथमें भी सृष्टि, स्थिति, प्रलय भगवान्ने नहीं दिया। रामजीने तो सीताजीके हाथमें दे दिया—'उद्भव, स्थिति, संहारकारिणीम्।' लेकिन नारायणने लक्ष्मीजीको उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयका विभाग नहीं दिया। लक्ष्मीजीसे उन्होंने पूछा—तुमको कौन-सा विभाग चाहिए? बोलीं हमको अनुग्रह-विभाग चाहिए। ये जो संसारके दुःखी जीव हैं उनकी भलाई करनेका विभाग हमको दे दो—सदावर्तका काम हम करेंगे, सबको बाँटेंगे। तो जब लक्ष्मीजी सिफारिश करती हैं कि इस जीवका उद्धार करो तब भगवान् करते हैं। पाँव दबाती रहती हैं—उनकी छातीपर रहती हैं। जरा-सा दबा देती हैं, फिर मुसकराकर भगवान् देखते हैं तो कह देती हैं कि इसका उद्धार करो। सृष्टि, स्थिति—जैसे राजाके हाथमें शासन होता है, सारी परिस्थितियाँ राजाके अधीन हो जाती हैं।

बिलकुल सन्देह मत करो। प्रशासनके अनुसार परिस्थिति बनती है—महामारी फैले, आरोग्य रहे। यदि प्रशासन ठीक हो तो सबका मन ठीक रहे और मन ठीक रहे तो तन ठीक रहे। भगवान्ने कहा यह तीन बात हमारे हाथमें है। बोले—देखो सब मैं हूँ—जिसको संसारके लोग अच्छा समझते हैं, वह भी मैं, और

जिसको बुरा समझते हैं वह भी मैं। संसारके जो मजहब हैं उनकी अपेक्षा विलक्षण है। एक नयी बात है, आप मजहबी दृष्टिकोणसे न देखें। मजहबी लोग मानते हैं कि जितने अच्छे-अच्छे गुण हैं वे तो हमारे परमेश्वरमें हैं और जितनी बुराइयाँ हैं वे सब शैतानमें हैं। उनके एक ईश्वर हैं और एक ईश्वरका दुश्मन है। और हमारे जो वेदका सिद्धान्त है, मन्त्रका सिद्धान्त है, इसमें ईश्वरका दुश्मन कोई नहीं। शैतान नहीं है। ईश्वर ही ईश्वर सब !

बोले कुछ अमृत है, कुछ मृत्यु है। इसका भी विभाग कर लेते हैं। जो देवता हैं उनको अमृत पिलाते हैं और जो दैत्य हैं उनको मृत्यु देते हैं। मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृतिमें भी दोनोंमें एक ही भावका एक श्लोक है। जब भगवान्‌ने मौतको आज्ञा दी कि तुम जाकर लोगोंको मारो तो वह डर गयी कि यह हत्याका काम मैं करनेवाली नहीं हूँ। तब उसे एक मर्यादा दी। जिनका अन्न दूषित है उनको मृत्यु मारेगी, जो आलसी होंगे उनको मृत्यु मारेगी और आचारका परित्याग करेंगे उनको मृत्यु मारेगी और जो वेदका, अपने धर्मग्रन्थका अभ्यास छोड़ देंगे—सदाचारका पालन नहीं करेंगे—उनको मृत्यु मारेगी। मृत्युसे बचनेका उपाय है—आप एक लोक-कल्याणकी बड़ी योजना, लम्बी योजना मनमें बनाइये और उसको पूरा करनेके लिए दृढ़संकल्प कीजिये। आपकी प्राण-शक्ति बढ़ जायेगी, क्योंकि आप बड़ा काम करना चाहते हैं। दृढ़ संकल्प चाहिए, दृढ़ सफलताकी आशा चाहिए और ईमानदारी भी चाहिए। सबसे बड़ी तो ईमानदारी है। ईमानदारीके बिना तो दिखावा नहीं चलेगा।

अब देखो कि मृत्यु भी भगवान् कैसे हैं? यह अद्भुत है। आपका बच्चा अगर गन्दा कपड़ा पहने हुए हो या जीर्ण-शीर्ण हो

या मैला हो या एक ही कपड़ा पहने रखना चाहता हो तो आप क्या करते हैं? भले वह रोवे लेकिन आप उसका कपड़ा निकालकर फेंकते हैं। उसके शरीरका मैल छुड़ाते हैं। उसको नया कपड़ा पहनाते हैं। उसे ऋषिकुलमें जाना है। गुरुकुलमें जाना है। कालेज भी जाना है। समय-समयके अनुसार अपना काम करते हैं। यह नहीं कि आजका कालेज पाँच हजार वर्ष पहलेकी बात पढ़ानेमें लगा रहे। आजके कालेजको चाहिए कि पचीस वर्ष बाद, पचास वर्ष बाद देशकी परिस्थिति कैसी होगी, उसमें हमारा छात्र ठीक-ठीक 'फिट'-सूत्रकी तरह फिट हो जाये।

संस्कृतमें फिट-सूत्र बोलते हैं। उस समय जैसी परिस्थिति हो उसके अनुसार काम कर ले इतना योग्य होना चाहिए। जब आपका बेटा ऋषिकुलमें, स्कूलमें जाने लगता है तो वह अपनी पोशाक न बदलना चाहे तो भी आप बदलवाते हैं। ऐसे ही ये भगवान् हैं। जब देखते हैं कि इस शरीरसे जितना काम होना था वह हो चुका—बच्चेका भी हो जाता है। कोई योगी था उसके मनमें वासना थी कि मैं राजकुमार बनूँ और योगभ्रष्ट होकर राजकुमार बन गया। राजकुमार होने मात्रसे उसकी वासना हुई पूरी और वह शरीर छूट गया! छूट गया तो फिर वह योगी होगा। भगवान् यह बात देखते हैं। कालदण्डको अपने हाथमें रखते हैं। मृत्युसे भी किसीका भला होता है। मृत्युसे भी किसीकी दुष्टता छूटती है। हिरण्यकशिपु, रावण, कुम्भकर्णकी मरनेसे ही तो दुष्टता शान्त हुई।

भगवद्दृष्टि तो बड़ी विलक्षण है। वह हिंसा अहिंसा नहीं देखती है। इसमें भला कैसे है? हित कैसे है? जैन लोग, बौद्ध लोग अहिंसा देखते हैं। गांधीजी अहिंसा देखते हैं। जो नहर बहती

है, उसमें दुनिया बह जाती है। देखो एक देश है, जहाँ बच्चा पेटमें आता है वहाँ उसको निकाल देते हैं कि जनसंख्या बढ़ने न पावे और एक देश ऐसा है कि जहाँ बच्चा होनेपर पुरस्कार मिलता है। देश-देशका भेद है, कालका भेद है। भगवान् अनेक रूपोंमें कल्याण करते हैं। जिलाकर भी कल्याण करते हैं और मारकर भी कल्याण करते हैं। हमारा जीवन ऐसे महापुरुषके, पुरुषोत्तमके हाथमें है कि वह सब प्रकारसे हमारा कल्याण ही करते हैं। बीमार बच्चा हो, मिठाई खाने लगे तो उसके हाथसे छीन लेते हैं कि नहीं। ईश्वर कभी-कभी शरीर भी किसीका छीन लेता है। उसमें भी उसका कल्याण होता है। अब उसको नया शरीर मिलेगा, नया उत्साह मिलेगा, नया वीर्य मिलेगा। मृत्यु भी भगवान्का रूप है। 'अमृतं चैव मृत्युश्च।' एक ही सिक्केके दो पहलू हैं। कभी-कभी हम सोते हैं, कभी जागते हैं। कभी जीते हैं, कभी मरते हैं। और एक ही नचानेवाला है। जन्म और मृत्युको मत देखो। देखो उसको—हमारे शायर बोलते हैं—'मयको मत देखो साकीको देखो।' वह क्या दे रहा है पीनेको, यह मत देखो। पिलानेवालेको देखो। 'अमृतं चैव मृत्युश्च।'

भगवान् राग भी देते हैं। वैराग भी देते हैं। मृत्यु भी देते हैं। घबड़ाओ मत देनेवाला बहुत बढ़िया है। इतना बढ़िया है, हमारा इतना हितैषी है कि हमको कभी चिकोटी काट ले चाहे कभी चपत मार दे। कभी हमारे कपड़े उतार ले और कभी बढ़िया-बढ़िया लाकर पहना दे। हमारा पूरा विश्वास है, 'अमृतं चैव मृत्युश्च।' वह अमृत भी है, मृत्यु भी है। 'मृत्युः सर्वहरश्च।' भगवान्का एक रूप मृत्यु है। 'देख मृत्युका रूप धरे मैं नहीं डरूँगा तुमसे नाथ!' 'अमृतं चैव मृत्युश्च। सदसच्चाहमर्जुन।' ऐसा ईश्वर दुनियामें और किसीका नहीं है, हमारा है। यह हमारा

अपना ईश्वर है। दोनों तरफसे बताया हैं—मैं सत् हूँ, मैं असत् हूँ। माने मैं कार्य हूँ, मैं कारण हूँ। सत् कार्य है और असत् कारण है। सत् स्थूल है और असत् सूक्ष्म है।

दूसरी जगह अर्जुन कहते हैं—'सदसत्'—सत् भी वही असत् भी वही। दोनोंसे परे भी वही। कहा—'हाँ ठीक है'। अर्जुन, जगत्का मूल तत्त्व है ब्रह्मतत्त्व। उसको न सत् कह सकते न असत् कह सकते। वह अनिर्वचनीय है। वह सत्, असत् भी है और सत्, असत्से परे भी है। यहाँ भी वह बात है। सदसच्चाहमर्जुन। एक सत् है, एक असत् है। अब यह दोनों है। अपना दिल मत बिगाड़ो। सब खजानोंका खजाना अपना दिल है—यदि अपना दिल बिगड़ गया तो दुनियामें कुछ नहीं बना। आपकी भौं टेढ़ी न हो, आपकी वाणीसे कटुवचन न निकले। आपका हृदय किसीके प्रति क्रूर न हो। देखो वही प्यारा है, वही प्रभु है, उसको पहचानो। 'सदसच्चाहमर्जुन।' ईश्वरका यह स्वरूप ईश्वरके सिवाय कुछ नहीं है। इसका एक कारण है। उन्होंने उपादान अलग माना और निमित्त कारण अलग माना। बनानेवाले अलग हैं और जिस मृत्तिकासे यह बनता है वह दूसरी चीज है। नहीं, हमारे वेद-शास्त्रका सिद्धान्त है कि वही बनता है और वही बनाता है। बनानेवाला भी वही और बननेवाला भी वही—अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। वही निमित्त है, वही उपादान है। यह बात वेदान्तकी भी है, वेदकी भी है, तन्त्रकी भी है, महाभारतकी है, पुराणकी है, दर्शनकी है—हमारे दो नहीं हैं, एक ही है।

इसलिए मेरे भोले मित्र अर्जुन! (अर्जुन माने भोले मित्र) बड़े सरल स्वभावके हो तुम। तुम दुर्भाव मत भरो। अपने दिलको मत बिगाड़ो। अब देखो एक शास्त्रीय प्रश्न उठता है। लोग कहते हैं जब क्रतु भी वही, यज्ञ भी वही और अमृत भी वही, मृत्यु भी

वही—सत् भी वही, असत् भी वही तो यह नियम क्यों करते हो कि सदाचारसे ही कल्याण होता है—दुराचारसे भी होवे। सब वही है। यह बात कही गयी दूसरे प्रयोजनसे। प्रयोजनपर ध्यान दो कि हमारे हृदयमें भेद-बुद्धि न हो। हमारे हृदयमें दुर्भाव न हो। हमारे हृदयमें रागद्वेष न हो। भगवान् हमारे दिलको सँवारना चाहते हैं—जैसे आप अपने बाल, चेहरे, कपड़ेको सँवारते हैं—वैसे भगवान् चाहते हैं हमारे दिलको सँवारना। दिलमें जो कूड़ा-करकट है, उसे उबटन लगाकर, साबुन लगाकर साफ करना चाहते हैं।

सर्वमें परमात्मभाव किये बिना यदि तुम अपनी कामनाओंकी पूर्तिमें ही लगे रहोगे तो भले स्वर्गमें चले जाओ वह भी पातक ही है। पातक माने पतनका कारण—'पातयति' जो ऊपर चढ़े हुएको भी नीचे गिरा दे उसका नाम है पातक।

श्रीकृष्ण भगवान् बड़े क्रान्तिकारी हैं। हमारे सनातन धर्मी लोग कहते हैं जो शास्त्र-विधिको छोड़ करके स्वच्छन्द बरताव करता है, उसका पतन हो जाता है। 'न सुखं न परां गतिम्। न उसको सुख मिलेगा, न परा गति मिलेगी। 'शास्त्रं प्रमाणं ते'। मुसलमान कहता है कुरानको मानो, इसाई कहता है बाइबिलको मानो। हमारे पण्डित लोग कहते हैं धर्मशास्त्रको मानो और उसको छोड़ दोगे तो पतित हो जाओगे। एक बातपर आप ध्यान दें। यह अर्जुनका प्रश्न है—जो शास्त्रविधिको तो छोड़ देते हैं परन्तु हृदयमें श्रद्धा है, उनकी गति क्या होगी ? श्रद्धा उत्तम गति देनेवाली है और शास्त्रविधिका परित्याग अधम गति देनेवाला है। परन्तु कहीं दोनोंकी विषमता हो जाय तो ! शास्त्रविधि न रहे और श्रद्धा रहे तो ?

श्रद्धा हृदयको कोमल बनाती है। यदि दोनोंमें परस्पर विरोध हो जावे तो क्या होगा ? बोले सहज स्थिति है। वह स्वभावज

श्रद्धा होती है। स्वाभाविक श्रद्धा है, श्रद्धा कल्याण किये विना नहीं रहेगी। 'श्रद्धा मातेव योगिनं पाति'। जैसे माँ अपने बेटेकी रक्षा करती है वैसे अपने हृदयमें श्रद्धा वनी हुई है तो वह मनुष्यकी रक्षा करती है। 'श्रद्धा वित्तो भूत्वा'। श्रद्धा हमारी सम्पदा है। क्रान्ति कहाँ है कृष्णमें? क्रान्ति यह है कि यज्ञ-यागमें जो वड़ा आग्रह है। उसके वारेमें बोलते हैं कि वह ठीक है, यज्ञ करना तो वहुत अच्छा है, लेकिन जो यज्ञ करके तुम स्वर्ग चाहते हो वह अच्छा नहीं है। वहाँ क्या मिलेगा? भोगनेको अप्सरा मिलेगी, पीनेको अमृत मिलेगा, वहाँ घूमनेको नन्दनवन मिलेगा। यह जो तुम्हारी वासना है वह अच्छी नहीं है। यज्ञ-याग तो बहुत अच्छे हैं। वेदमें निन्दा है, इस वातकी कि इष्टापूर्तको, जो तुम बहुत बड़ा मानते हो, वह कामना तुम्हें दुनियामें भटका देगी। यदि कामनाके फन्देमें फँस गये तो कहाँ-कहाँ वह ले जायेगी—वह शराबखानेमें ले जायेगी, वह जुआघरमें ले जायेगी, वह व्यभिचारके अड्डेमें ले जायेगी। यदि तुम कामनाके अनुसार चलने लगोगे तो यह कामना कहाँ-कहाँ ले जायेगी कुछ ठिकाना नहीं। 'त्रिविद्या मां सोमपाः पूतपापाः'। यज्ञ अच्छा है, वेदोंका अध्ययन अच्छा है। यज्ञ करना अच्छा है, उससे पाप मिटाना अच्छा है। सोमपान करना भी अच्छा है। लेकिन यज्ञके द्वारा करते हैं हमारी आराधना और चाहते हैं स्वर्ग। राष्ट्रपतिकी, प्रधानमन्त्रीकी बड़ी खुशामत की। बोले किसलिए? इसलिए कि हम पेरिस जाना चाहते हैं। वहाँ हमको सबसे बढ़िया होटलमें रहनेकी जगह मिल जावेगी। अरे भाई राष्ट्रपतिके पास जाना अच्छा है, प्रधानमन्त्रीके पास जाना अच्छा है; पर किसीसे कहना कि अपना हाथी दे दो, हमको हाथीसे हल जुतवाना है। यज्ञ करके भगवान्‌को प्रसन्न करते हो और फिर भगवान्‌से चाहते हो कि हमको स्वर्ग मिले!

एक लड़कीने राजकुमारको प्रसन्न किया। उसने कहा तुमको क्या चाहिए? राजकुमार सब कुछ देनेको तैयार है। उसने कहा कि गाँवमें वह सबसे बड़ा गुण्डा है न! उसके साथ हमारा ब्याह कराओ।

यज्ञसे भगवान्‌को किया खुश और उनसे माँग ली अप्सरा। उनसे माँग लिया अमृत। उनसे माँग लिया नन्दनवन। उनसे माँग लिया कि हमको घूमनेके लिए एक हवाई जहाज दे दो। 'ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्'—भगवान् कहते हैं—जाओ भाई सैर कर आओ। वहाँ सुरेन्द्रलोकमें जाते हैं और वहाँ दिव्य भोग उनको प्राप्त होते हैं। 'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालम्'—बोले भाई, अब पैसा नहीं है। होटलमें आये तो हैं। इतने दिन तक रहे, इतना भोग किया लेकिन जो तुम्हारे पास पूँजी थी सो चुक गयी। सो वही कर्मचारी जो तुम्हारी सेवा करते थे बाहर निकाल देते हैं।

महाभारतमें कथा है—राजा ययाति स्वर्गमें गये। इन्द्रने उनको अपने आधे सिंहासनपर बिठाया। बड़ा स्वागत-सत्कार किया। सब देवता हाथ जोड़कर खड़े। लेकिन जब उनका पुण्य क्षीण हुआ तो गरदनपर हाथ लगाकर ढकेल दिया। गरदनियाँ दे दी। अर्धचन्द्र बोलते हैं संस्कृतमें—अर्धचन्द्र दिया उनको। 'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।' लेकिन जहाँ पुण्यकी पूँजी गयी, वह, पुण्य भी पातक ही है जो एक बार ऊँचे पदपर ले जाकर गिरा दे। जो ऊँचे-ऊँचे ले जावे और सबसे ऊँचेके पास ले जावे वह तो सच्चा पुण्य है, नहीं तो यह भी एक पवित्र पाप ही है। पूतपापा श्लोकमें ही है। पापी तो हैं पर पूतपापी हैं। पाप तो इसलिए है कि वह हमारी रक्षा नहीं कर पाता है—पा धातु रक्षाके हेतु है। जो संरक्षणसे च्युत

कर दे—उसका नाम पाप है। एक बार तो ऊपर उठाकर ले गया। हम गेंद मारते हैं धरतीपर, वह ऊपरतक उछलता है। क्यों उछलता है? नीचे गिरनेके लिए उछलता है। यह पुण्य उछालकर जिनको स्वर्गलोकमें ले जाता है, वहाँसे धरतीपर गिरानेके लिए, पटकनेके लिए ले जाता है। धरतीसे स्वर्गमें जाते हो, स्वर्गसे धरतीमें गिरते हो! आखिर धरतीका ही आश्रय है बाबा! धरतीमें ठीक-ठीक रहो। हम स्वर्गमें जाकर ठीक रहेंगे, यह कल्पना मत करो।

श्रीकृष्णने इन्द्रकी पूजा बन्द कर दी और धरतीका जो एक अंश है पहाड़, उसकी पूजा करवायी। इन्द्रकी पूजा बन्द करवायी और मिट्टीकी पूजा करवायी। यह श्रीकृष्णका क्रान्तिकारी रूप है। पीढ़ी-दरपीढ़ीसे इन्द्रकी पूजा चली आरही थी और बोले छोड़ दे बाबा! देख हमारी गायोंका पालन-पोषण तो यह पहाड़ करता है। हमको खानेको तो ये पेड़ देते हैं। खेती देती है। यह धरती माता हमको अन्न देती है। कहाँ ऊपरकी ओर इन्द्रकी ओर देखता है। खसूची बन गया। खसूची माने चलते तो हैं धरतीपर और देखते हैं आसमानकी ओर। आजकल दिल्लीमें देखना हो तो खसूचियोंकी भरमार है। सबके घरमें एक-एक खसूची पनपता रहता है। 'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं, क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।' 'एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना।'—शंकराचार्यका पाठ है। और दूसरे रामानुजाचार्यका—'गतागतं कामकामा लभन्ते।' एक कामना-दूसरी कामना, तीसरी कामना–कामान्—बस, अपने भोग-सुखको, अपनी इच्छापूर्तिको ही सबसे बड़ी चीज मानते हैं। 'गतागतं'—गये और आये। झूलेकी तरह झूल रहे हैं—न स्वर्गमें टिकते हैं न धरतीपर टिकते हैं। न समाजसेवी रहे, न राजनेता रहे। वहाँसे भी गये, यहाँसे भी गये। सेवा तो बनती नहीं और कुरसी टिकी

नहीं। फिर क्या करेंगे ? ये जो लोग कुरसिकाके चक्करमें पड़ जाते हैं—कुरसिका माने वेश्या। कु-रसिका माने, वेश्या। कुरसिका—'कु' माने धरती—जिसके पाँव हमेशा धरतीपर रहते हों उसको कहेंगे कुरसी। कुरसिकाके चक्करमें पड़ गये। 'गतागतं'-- बैठो और उलटो। बैठो और उलटो। 'गतागतं कामकामा लभन्ते।' क्यों ऐसा होता है ? वे स्वार्थके चक्करमें होते हैं। न वे मानवताकी सेवा करना चाहते हैं, न विश्वकी, न राष्ट्रकी, न प्रान्तकी, न मजहबकी, न जातिकी—वह तो अपने स्वार्थके चक्करमें हैं–'गतागतं कामकामा लभन्ते।'

आओ एक बढ़िया बात आपको सुनावेंगे।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

महाभारतके अन्तर्गत गीता है। इसपर एक टीका अर्जुनमिश्रने लिखी है। वे जगन्नाथपुरीमें रहते थे। टीकाका नाम है लक्षाभरण। महाभारतपर संस्कृतमें दस टीकाएँ हैं। एक तो समग्र महाभारत पर नीलकण्ठी है। और एक अर्जुन मिश्रका लक्षाभरण है। जब यह श्लोक आया टीका लिखते समय तब वह सोचने लगे कि 'योगक्षेमं वहाम्यहम्।' भगवान् कहते हैं कि योगक्षेमको मैं ढोता हूँ। माने वह शान्त होकर बैठे हुए हैं और मैं जो कुछ उनके पास है—साधन है, धन है, सम्पत्ति है उसकी पहरेदारी करता हूँ। बल्कि अपने सिरपर लेकर खड़ा रहता हूँ कि कहीं चोर न ले जाय। 'वहामि योगं वहामि क्षेमं वहामि।' जो उनके पास नहीं है वह लाकर देता हूँ। इसका नाम हुआ योग—अप्राप्तकी प्राप्तिका नाम है योग। यदि उनके साधनमें कुछ कमी है तो उसको मैं पूर्ण कर देता हूँ। यदि उनके पास खानपानकी कमी है तो खानपान

सिरपर ढोकर लाकर देता हूँ। और 'क्षेमं'—उनको कोई हानि पहुँचानेके लिए आवे—नुकसान करनेको आवे तो 'क्षेमं वहामि' हाथमें धनुष-बाण लेकर खड़ा हो जाता हूँ। उनकी रक्षा करता हूँ।

अम्बरीषको हानि पहुँचाने कृत्या आयी और हमारा चक्र घूम गया। तुलसीदासकी चोरी करने चोर आये—धनुष-बाण लेकर खड़े हो गये। 'क्षेमं वहामि' और 'योगं वहामि'। अब अर्जुनमिश्रके मनमें आया कि ये भगवान् वहामि क्यों बोलते हैं। ददामि क्यों नहीं बोलते ? 'योगक्षेमं ददाम्यहम्।' मैं उनको योगक्षेम देता हूँ ऐसे बोलना चाहिए। 'वहामि'का अर्थ होता है सिरपर उठाकर ढोना। सोच-विचारकर उन्होंने निश्चय किया कि यह लेखकके प्रमादसे 'ददामि'का 'वहामि' बन गया है। हड़ताल लगा दी। पीली-पीली हड़ताल लगाकर वहाँ—उस जगह ददा लिख दिया और 'मि' तो ज्यों-का-त्यों। चले गये समुद्रमें स्नान करनेको। घरमें तो कुछ था नहीं उनके।

पहले जो महात्मा लोग थे, वे खाने-पीनेकी फिक्र नहीं करते थे। एक बालक अपने सिरपर एक टोकरी लेकर, उसमें दाल, चावल, आटा, घी, नमक, साग, सब्जी भरकर–घरमें पहुँचा दिया। बोला–'मिश्राणीजी ये आप लीजिये भोजन बनाइये। उन्होंने पूछा 'कहाँसे आया भाई ?' हमको मिश्रजीने भेजा है। देख तेरे शरीरपर चोट कैसे लगी ? पीला-पीला यह सब क्या है ? हल्दी काहेको लगा रखी है ? बोले मिश्रजीने हमको मार-मारकर भेजा है। बड़ी नाराज हुईं—मिश्रजीपर। बड़े प्यारसे उसको समझा-बुझाके भेजा।

मिश्रजी आये तो उनपर नाराज—क्यों तुमने उस सीधे-साधे बालकको मारा ? अरे कौन बालक ? वही जो सीधा-सामान

लेकर आया था। न मैंने सीधा सामान भेजा, न मुझे मालूम, वह कौन था ? वह बड़ा सुन्दर बालक था। उसको तुमने मार-मारकर भेजा। वे बोले ना-ना। यह गीता भगवान्‌का रूप है, मैंने इसपर जो हड़ताल लगायी थी, अङ्ग-भङ्ग कर दिया गीताका, वहामिका ददामि बना दिया और हड़ताल लगादी—वही हल्दी लगाकर आया था। भगवान्‌को भक्त लोग कपटी बोलते हैं। देखो, तुमको तो दर्शन दे गया और हमको उसके दर्शन नहीं हुए।

'योगक्षेमं वहाम्यहम्' किसका योगक्षेम ढोते हैं भगवान् ? 'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते'। देखो भाई, तुम्हारा जन्म हुआ। जिनका जन्म होता है उनका नाम हुआ जन। 'मां चिन्तयन्तः'। मेरा चिन्तन करते हुए। 'मां पर्युपासते'। मन मैं हूँ और चारों ओर भी मैं। पर्युपासते माने चारों ओर—ये देखो श्याम, ये देखो श्याम। हृदयमें भगवान्‌का चिन्तन और चारों ओर भगवान्‌का दर्शन और अनन्य माने—अन्य कोई दूसरा नहीं। जो कुछ दूसरा मालूम पड़ता है, उसमें भगवान् हैं। उसीको देखोगे तो समदर्शी हो जाओगे।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

तुम्हें चाण्डालमें मनुष्यतक तो दिखता नहीं, भगवान् कहाँसे दिखेंगे ? आदमी तो उसको समझते नहीं, ईश्वर कहाँसे देखोगे ? यहाँ तो बोलते हैं 'पण्डिताः समदर्शिनः'। भागवतमें तो स्पष्ट है—जबतक भगवान्‌को नहीं देखोगे समता नहीं आयेगी और समता नहीं आवेगी तो शान्ति नहीं मिलेगी। बिना समताके शान्ति नहीं मिल सकती।

'अनन्याः' भगवान्‌के सिवाय अन्य कोई नहीं है। व्रजमें एक लटका बोलते हैं। एक वल्लभ सम्प्रदायकी यात्रा निकली थी। गोस्वामीजी महाराज बैठे थे। नन्दगाँवके ग्वाल—हैं तो ब्राह्मण—पर खेती-बाड़ी करते हैं, सिरपर बोझा लिये द्वारिका आगये। देखा सभा जुड़ी है—पटक दिया। लाठी टेककर खड़े हो गये। लोगोंने कहा—पा लागी महाराज, पा लागी महाराज! तो बल्लभ सम्प्रदायके गोस्वामीजीने पूछा—तुम कौन हो? हम गोस्वामी—हमसे पूछते हो तुम कौन हो? पहले तुम बताओ तुम कौन हो? बोले हम अनन्य हैं। बोले अच्छा अनन्य तुम हो तो हम खनन्य हैं। अरे भाई खनन्य क्या होता है? हमने तो कभी सुना नहीं। तो बोले अनन्य क्या होता है पहले यह बताओ? उन्होंने तो देवी देवताओंका नाम लिया—ये सब अन्य-अन्य देवता हैं—ये सब अन्य हैं और हम अनन्य हैं। तो उसने कहा कि तुम तो इन सालोंका नाम भी जानते हो! जो इनका नाम भी न जाने उसका नाम खनन्य। व्रजमें ऐसे गाली देते हैं तो—सारे बोलते हैं। कृष्णको भी 'सारे' कहकर पुकारते हैं। तो तुम तो इन सारोंका नाम भी जानते हो! अनन्य हो। हम तो इनका नाम भी नहीं जानते, इसलिए हम खनन्य हैं।

तो 'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।' अनन्य माने वस्तु दूसरी नहीं है और पर्युपासते माने स्थान दूसरा नहीं है और नित्याभियुक्तानां माने काल दूसरा नहीं है। भगवान् तो योगक्षेम वहन करनेके लिए अप्राप्तकी प्राप्ति और प्राप्तके संरक्षणके लिए हर देशमें, हर कालमें, हर वस्तुमें, हर रूपमें तैयार रहते हैं। तो देखो पहले यह बात बतायी कि जो तुम साधन करते हो वह भगवान् हैं, और कालका

नियन्ता भगवान् हैं, और हमारा सर्वस्व—'गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षीः' भगवान् हैं।

आप यज्ञ भले करो—परन्तु उससे स्वर्ग मत चाहो। अन्तः-करणकी शुद्धि, परमात्माकी प्राप्तिके लिए करो। चार प्रकारसे कर्म होता है। प्रायश्चितके लिए होता है, अपने कर्तव्य पालनके लिए होता है, अन्तःकरण शुद्धिके लिए होता है, भगवान्‌की प्रसन्नताके लिए होता है। आप जो भी कर्म करो, उस कर्ममें चार बातका ध्यान रखो। आपने जो बुरा काम किया है, उसका प्रायश्चित हो जाय, अपने कर्तव्यका पालन हो जाय, अन्तःकरणकी शुद्धि हो जाय और भगवान् प्रसन्न हो जायँ। प्रसन्न हों माने अपना बुरका हटाके जरा सामने प्रेमभरी आँखसे देख लें, एकबार मुसकरा जायें। ये जो अपनेको ढँक-ढँककर बैठे हैं न! आवृत हो गये हैं। उन्होंने गोपियोंका चीर हरण किया। हम उनका चीर हरण करना चाहते हैं। इसके लिए कर्म होता है।

प्रवचन : ८

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

भगवान्‌ने पहली बात कही अनन्यता। 'न अन्यत् तत्त्वं एषा' परमात्माके सिवाय दूसरा कोई तत्त्व जिनके लिए नहीं है। एक परमात्मा ही सर्व-रूपमें प्रकट है, सर्वका आधार है, सर्वका अन्तर्यामी है, सर्वका अधिष्ठान है और सर्वका प्रकाशक है। उसके सिवाय न कोई आधार है, न अन्तर्यामी, न उसके सिवाय कोई अधिष्ठान है और न प्रकाशक।

भक्तलोग कहते हैं—'मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई।' मेरे तो सब कुछ भगवान् ही हैं। दूसरा कोई नहीं है। मधुसूदन सरस्वती कहते हैं—श्रीकृष्णके सिवाय और कोई तत्त्व है, यह मुझे ज्ञात नहीं है। जिनको भगवद्रसका आस्वादन हो जाता है, एक वार भगवान्‌के चरणारविन्दमें मन लग जाता है, उसको अभ्याससे 'अनन्यता' लानी नहीं पड़ती है, स्वाभाविक ही 'अनन्यता' उसमें आ जाती है।

भगवान्‌के चरणारविन्दसे अमृतकी धारा बह रही है। झर-झर

झर-झर—'अमृतस्य' धारा। उनमें जिसने अपना मन लगा लिया, अपनी आत्माको सन्निविष्ट कर दिया, उसको फिर दूसरी वस्तु पानेकी इच्छा कैसे हो सकती है--'स्थितेऽरविन्दे' मधुसे, मकरन्दसे, रससे, भरपूर अरविन्द अपने सामने है। मधुव्रत निष्ठावान् है। मधुके सिवाय और कुछ नहीं लेता। दलको, पत्तीको, फलको हानि नहीं पहुँचाता। दूसरी वस्तु उसमें-से लेता नहीं। कण भी नहीं लेता, पराग भी नहीं लेता। जिसको अरविन्द मकरन्दका समास्वादन प्राप्त हो जाय वह किसी सूखी घासकी ओर, सूखे तृणकी ओर क्यों देखेगा? जिसको भगवद्‌रसका आस्वादन हो जाता है वह अनन्य हो जाता है। अब एक विभाग इसका क्या है? निश्चयमें अनन्यता और धारामें चिन्तन—'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां' निश्चय है परमात्माके सम्बन्धमें यह 'अनन्यता' है—'अनन्यता'में निश्चय है और चिन्तनमें। चित्तमें जितनी वृत्तियाँ उठती हैं—ये कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण परमात्मा, भगवान्—स्मरणमें गृहीत ग्रहण होता है। माने जो पहले कहीं देखा हो, कहीं सुना हो, अनुभव किया हो, उसका स्मरण होता है। स्मृति गृहीतग्राहिका होती है और चिन्तन नव-नव उन्मेषशाली होता है। चिन्तन माने दोहराना नहीं, चिन्तन माने अभ्यास नहीं, चिन्तन माने परमेश्वरके बारेमें नयी-नयी बातोंका हृदयमें आना।

स्मरण दूसरी वस्तु है। वह जितना देखा-सुना है, अनुभव किया हुआ है, वह भी पूरा-का-पूरा नहीं, उसका आधा आता है, आधा भी आवे, चौथाई भी आवे, उलटा भी आवे—इसीसे स्मरणको दर्शन शास्त्र, प्रमाण शास्त्रमें, प्रमाण नहीं मानते हैं। स्मृति प्रमाण नहीं है। और चिन्तन नव-नव उन्मेषशाली है। कल जैसी बात आपके सामने सुनायी थी उसकी अपेक्षा यह दूसरी शैली है। परन्तु अनन्यताका विषय एक है।

नन्दनन्दन श्यामसुन्दर हमारे हृदयमें रहते हैं सो दूसरेको कैसे ले आवें ? चिन्तन भी हो, उन्हींका। रामभक्त कहते है।

माता रामो मत्पिता रामचन्द्रः स्वामी रामो मत्सखा रामचन्द्रः।
सर्वस्वं मे रामचन्द्रो दयालुः नान्यं जाने नैव जाने न जाने॥

मेरे पिता राम हैं। मेरी माता राम है। मेरे स्वामी राम हैं, मेरे सखा राम हैं। मेरे सर्वस्व दयालु राम हैं—'नान्यं जाने नैव जाने न जाने।' मैं दूसरोंको नहीं जानता—नहीं जानता—नहीं जानता। यह अनन्यता है। माता, तात, गुरु, सखा ये सब-के-सब भगवान् हैं। सब प्रकारसे हमारे हित को भगवान् जानते हैं।

'ऊधो मन न भये दस बीस। एकहु तो सो गयो श्यामसंग, को आराधै ईस।' मन तो एक ही होता है और मनमें एक साथ दो ज्ञान नहीं होते। जिसको मनमें राम दिख रहे हैं वहाँ कामके लिए अवकाश ही कहाँ ?

एक बात हुई अनन्यताका निश्चय और दूसरी बात हुई चिन्तनकी धारा। निश्चय भी अन्तरंग है, और चिन्तन भी अन्तरंग है। बाहर देखेंगे तो क्या ? 'पर्युपासते–परितः सर्वतः उपासते।' जो दीखता है, ये देखो श्याम, ये देखो श्याम, ये देखो श्याम। सम्पूर्ण जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण परमेश्वर है। 'मया ततं विश्वमनन्तरूपः। येन सर्वमिदं ततम्।' अन्यके रूपमें वर्णन है भगवान्का। जिनके द्वारा ये सम्पूर्ण तत है—माने कपड़ेमें सूतकी तरह सब भरा हुआ है। अर्जुनने कहा 'त्वया ततं विश्वमनन्तरूप'—ये सब परमात्माका रूप है और जो देखते हैं—'सर्वसर्वगत—सर्वं खल्विदं ब्रह्म।'

तीसरी बात देखो। 'नित्याभियुक्तानां।' नित्य माने कालकी

धारा—अविच्छिन्न। जो सर्व नहीं होगा वह कालकी धारामें विच्छिन्न हो जावेगा। कभी उसका स्मरण होगा और कभी नहीं होगा। और जो सर्व देशमें नहीं होगा उसका कहीं स्मरण होगा, कहीं नहीं होगा। कभी चिन्तन होगा, कभी नहीं होगा। जो सर्व देशमें रहता है, जो सर्वकालमें रहता है, और जिसके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु नहीं है, उसीके साथ नित्य योग हो सकता है। 'नित्याभियुक्तानां'। जो कहीं हो, कहीं न हो, कभी हो, कभी न हो, कुछ हो, कुछ न हो तो उसके साथ हमारा योग नित्य नहीं हो सकता। नित्य योग तो तभी होगा, जब वह हमारा परमेश्वर सर्व होगा। योगक्षेमं वहाम्यहम्।' ऐसे जो भक्त हैं, जिन्होंने अपना सर्वस्व मान लिया भगवान्‌को—'अकिञ्चनो न अन्यगतिः'—दूसरा साधन भी नहीं है।

तो अनन्यतामें शरणागति है। चिन्तयन्तोमें बुद्धिकी धारा होवे। और पर्युपासतेमें भाव हो और नित्याभियुक्तानांमें नित्य संयोग हो। अब भक्त क्या करे? पद्मपुराणमें एक कथा आयी है, एक भक्तने भगवान्‌से प्रश्न किया कि प्रभु जब मृत्युका समय आयेगा तब हमारे हाथ काम नहीं देंगे तो मैं माला कैसे फेरूँगा? जीभ काम नहीं देगी तो मैं आपके नामका उच्चारण कैसे करूँगा? दिल-दिमाग मेरे वशमें नहीं रहेगा तो मैं आपका स्मरण-चिन्तन कैसे करूँगा? भगवान्‌ने कहा—'तुम मेरे प्यारे भक्त निश्चिन्त हो जाओ। जब तुम्हारा हाथ, जीभ, दिल, दिमाग काम नहीं देगा तो मैं स्वयं आऊँगा और तुम्हारे आसनपर बैठ जाऊँगा और तुम्हारी माला लेकर, तुम्हारी ओरसे मैं अपने नामका जप करूँगा और अपना स्मरण करूँगा, अपना चिन्तन करूँगा और तुम्हारे ही रूपमें अपना रूप प्रकट करूँगा, मैं और तुम दोनों अलग-अलग नहीं रहेंगे।

यह क्या हुआ ? यह योगका वहन हुआ। ऐसी अखण्ड स्थिति भक्तको प्राप्त नहीं है कि वह मृत्युके समयमें भी भगवान्‌का चिन्तन कर सके तो भगवान् अपने भक्तका चिन्तन करते हैं। भगवान् भी वही हो जाते हैं। 'अनन्याः चिन्तयन्, पर्युपासनम्—नित्याभियुक्ताः' 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।' भगवान् भी अपने भक्तके सिवाय दूसरेको नहीं देखते। यदि मेरे भक्त जिन्दा नहीं रहेंगे तो मैं भी जिन्दा रहूँगा? भक्त नहीं रहेंगे तो भगवान् कहाँसे? किसके भगवान् ? 'पुरुषं प्रकृतिं चैव'—तेरहवें अध्यायके इस श्लोककी व्याख्यामें भगवान् शंकराचार्यने कहा—यदि कोई नियममें नहीं रहेगा, जीव नहीं रहेगा और प्रकृति नहीं रहेगी तो भगवान् नियन्ता किसके होंगे ?

एक सज्जन मेरे पास आये। बोले—मैं अपने स्कूलमें हेडमास्टर हूँ। मैंने उनसे पूछा कि और कतने अध्यापक हैं ? तो बोले और कोई नहीं है महाराज ! फिर मैंने पूछा विद्यार्थी कितने हैं ? बोले विद्यार्थी भी नहीं हैं। जब विद्यार्थी नहीं हैं और दूसरे अध्यापक नहीं हैं तो वह हेडमास्टर किसके ? उनको तनखाह मिलती है। स्कूलका नाम दर्ज है। परन्तु न विद्यार्थी हैं न अध्यापक हैं, तो वे हेडमास्टर कैसे ? ईश्वरके लिए तो कोई जीव होगा तभी न उसका ईश्वर होगा ! जगत् हो तो उसका ईश्वर 'नियम्याभावे नियन्त्रकाभावप्रसङ्गः।' यदि प्रकृति पुरुष नहीं होंगे तो वह नियन्ता किसका होगा ? ईश्वर कहते हैं कि मेरा भक्त न हो तो मैं अपनेको भी रखना नहीं चाहूँगा। भक्त लोग मुझे अपने वशमें कर लेते हैं। 'वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या'—जैसे सती स्त्री अपने सज्जन पतिको अपने वशमें कर लेती है वैसे भक्तलोग भगवान्‌को अपने वशमें कर लेते हैं। मैं तुम्हारे सिवाय और किसीको नहीं देखता हूँ, तो भगवान् बोलते हैं—मैं तुम्हारे सिवाय और किसीको नहीं देखता

हूँ। वह तो वही प्रतिध्वनित होगा जो भक्त बोलेगा, वही भगवान्‌को बोलना पड़ेगा। मैं केवल तुम्हारा चिन्तन करता हूँ। भगवान् कहते हैं--मैं भी भक्तके सिवाय और किसीको नहीं जानता हूँ। भक्तको सर्वत्र भगवान् दीखते हैं। बल्कि इस अंशमें भगवान् भक्तोंके ऋणी भी हैं--

भागवतमें यह प्रसंग आता है। 'अनुव्रजाम्यहम्'--मैं अपने भक्तोंके पीछे-पीछे चलता हूँ। पीछे-पीछे क्यों चलते हो? इसलिए कि उनके चरणोंकी धूलि मेरे ऊपर पड़ जायेगी तो मैं पवित्र हो जाऊँगा।

भक्तके चरणरेणुसे भगवान् पवित्र होते हैं। एक महात्माने पूछा कि प्रभो, आपमें क्या अपवित्रता है कि आप पवित्र होनेके लिए भक्तके चरणोंकी धूलि लेनेके लिए उसके पीछे-पीछे घूमते हैं? भगवान्‌ने कहा--भाई, हमारे अन्दर एक अपवित्रता है? क्या है? बोले भक्तके प्रेम जैसा मैं उससे प्रेम नहीं कर पाता हूँ। यह मेरी त्रुटि है। यह मेरी अकृतज्ञता है। भक्त अनन्य भावसे मुझसे प्रेम करता है, एक भक्त केवल मुझे ही सम्हालता है और मुझे भक्तोंको सम्हालना पड़ता है। भक्तके प्रेमके बराबर मेरा प्रेम भक्तसे नहीं होता। तो इससे मेरे अन्दर त्रुटि आजाती है। अपवित्रता आजाती है। उस अपवित्रताको दूर करनेके लिए मैं भक्तोंकी चरणधूलिको अपने सिरपर लगानेके लिए उनके पीछे-पीछे घूमता हूँ।

भगवान् ऋणी भी होते हैं। भागवतमें गोपियोंसे कहते हैं--तुम्हारा प्रेम निश्छल है, निष्कपट है, मैं इससे कभी उऋण नहीं हो सकता है। तुमने मेरे लिए अपना घर छोड़ा, अपना धर्म छोड़ा, अपना परलोक--सारी जंजीरें काट दीं। सारे बन्धन काट दिये और मुझसे तुमने प्रेम किया। मैं तुमसे उऋण कैसे हो सकता हूँ? जन्म-जन्मके लिए यह भगवान्‌की वाणी है। जिसमें अहंकार है

वह ऐसी वाणी नहीं बोल सकता है। बार-बार दुहराते हैं। मेरे हृदयमें एक ऋण ऐसा बैठ गया है, जो अब खटकता है। भगवान्की आँखोंमें आँसू आजाते हैं। हमारे ऊपर ऋण है, ऋण है, और बढ़ता जा रहा है। उसका ब्याज भी बढ़ता जा रहा है।

यह ऋण मेरे हृदयमें बढ़ रहा है। बढ़ता जा रहा है। और मेरे दिलसे एक क्षणके लिए भी अलग नहीं होता। मेरे लिए द्रौपदोको पुकारना पड़ा। क्योंकि मैं दूर था। द्रौपदीको अपनी रक्षाके लिए मुझे पुकारना पड़ा--मैं पहलेसे सावधान नहीं था। मेरे रहते द्रौपदीपर संकट आगया और मुझे पुकारना पड़ा, यह मेरे ऊपर कर्ज हो गया है। भगवान् हमेशा तैयार रहते हैं। चक्र हाथमें है, भक्तका कोई दूरसे संकट दिखायी पड़े तो चक्र फेंककर उसको मार दें। और निकट कोई संकट आजावे तो गदा हाथमें है, गदासे मार दें। और हमारे भक्तकी जीत तो होगी ही, इसके लिए, विजयघोषणा करनेके लिए शंख रखते हैं।

यों देखो ध्रुवके सामने भगवान् प्रकट हुए तो उसके मनमें इच्छा हुई कि भगवान्की स्तुति करे। पर ध्रुवको कुछ ज्ञान तो था नहीं। स्तुति कैसे करे ? तो तुरन्त शंख लेकर ध्रुवके कपोलमें स्पर्श कर दिया और जहाँ शंखका स्पर्श हुआ, ध्रुवको तत्त्वज्ञानकी स्फूर्ति हो गयी। तो यह योग हुआ। माने ध्रुवके पास जो साधन नहीं था वह साधन ध्रुवको दे दिया।

स्वायम्भुव मनु थे। भागवतमें कहा है कि एकान्तमें जाकर उपनिषद्का जप कर रहे थे। क्या जप कर रहे थे, 'आत्मावास्यमिदं सर्वम्—ईशावास्यं को आत्मावास्यं।' असुरोंने देखा कि अब राज-काज छोड़कर ये तो जपमें, तपमें, ज्ञानमें लग गये तो अब इनको चलकर मार डालें। और जो असुरोंने उनके ऊपर

धावा किया स्वयं शंख, चक्र, गदाधारी भगवान् उनके सामने प्रकट हुए। जैसे भक्त लोग भगवान्का भजन करते हैं वैसे भगवान् भी भक्तोंका भजन करते हैं। सेवा किसकी बड़ी? जीवकी सेवा बड़ी है। क्योंकि जिसके पास अनन्त धन-राशि हो वह यदि किसीको हजार, दो हजार, दस हजार दे दे तो उसमें कुछ विशेषकी बात नहीं है। परन्तु जिसके पास एक ही रुपया हो और वह अपना एक रुपया ही दे दे तो उसकी विशेषता होती है। धनकी अधिकता या न्यूनतासे दानका महत्त्व नहीं होता है। प्रीतिकी अधिकतासे, भक्तिकी अधिकतासे दानका महत्त्व होता है। जीवके पास थोड़ा-सा साधन है।

स्तोत्रमें एक बात कही कि हे प्रभो, यदि ब्रह्माजी और मैं दोनों तुम्हारी स्तुति करने लगें तो आप किसके ऊपर पहले प्रसन्न होंगे? निर्णय करो। मैं जानता हूँ कि ब्रह्माजीकी आयु बड़ी लम्बी है, कल्पस्थायी है, शक्ति बहुत है और ज्ञान बहुत है, वे आपकी स्तुति करने लगेंगे, तो वे तो न जाने कितने कल्पतक करते रहेंगे! लेकिन मैं तो अल्पज्ञ हूँ, अल्पायु हूँ, अल्पशक्ति हूँ, अल्पज्ञान हूँ। जब मैं स्तुति करना प्रारम्भ करूँगा तो थोड़ी देरमें ही बेहोश होकर गिर पड़ूँगा। तब मैं जानता हूँ कि आप ब्रह्मज्ञानीको उठाने नहीं दौड़ेंगे, मुझे उठानेके लिए दौड़ पड़ेंगे।

देखा यह बेचारा तो थक गया—तो तुरन्त अपनी गोदमें ले लेंगे। 'क्षेमं वहाम्मि'। भगवान् अपने भक्तका जो योगक्षेम है उसको सेवककी तरह—जैसे अपने स्वामीकी वस्तु लेकर पीछे-पीछे सेवक चलता है। स्वामीकी पोटली किसके हाथमें? बोले सेवकके हाथमें। पर यहाँ उलटा है। सेवककी पोटली स्वामीके हाथमें। 'योगक्षेमं वहाम्यहम्।'

अब प्रश्न हुआ दूसरोंका भजन तो करते हैं न! लोग सिपाहीसे बहुत डरते हैं। यदि सम्राट् देखे कि ये लोग सिपाहीसे बहुत डरते हैं तो सिपाही महाराजके सामने डरता है। महाराज समझते हैं कि यह हमारा सिपाही है, इसलिए लोग डरते हैं न! यदि इसके पास हमारी वर्दी न होती, हमारा चपरास न होता, हमारा चिह्न इसके पास न होता तो इससे लोग डरते क्यों?

लोग तो समझते हैं कि देवता लोग अलग हैं। ये विभागाध्यक्ष हैं। एक-एक विभागके अध्यक्ष—जैसे एक-एक प्रान्तके गवर्नर होते हैं, जैसे एक-एक प्रान्तके मुख्यमन्त्री होते हैं—जैसे ये स्वास्थ्य विभागके हैं, ये विधि-विभाग हैं, ये शिक्षा-विभागके हैं—वैसे ही देवता लोगोंकी भी मिनिस्टरी अलग-अलग होती है। यही देवताओंका पृथक्त्व है। और सम्पूर्ण विश्वका जो सम्राट् है, वह एक परमेश्वर है।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥

कभी-कभी फोन आता है और मेरे साथके लोग अपने-अपने काममें संलग्न रहते हैं तो मैं उठा लेता हूँ। हमको घुमाना तो नहीं आता है—अभी तक किसीको अपने हाथसे घुमाकर फोन नहीं किया है, लेकिन ये लोग जब नहीं रहते हैं तो मैं उठा लेता हूँ। जब मैं उठाता हूँ तो कहते हैं, अमुकको बुला दीजिये—जब वे आते हैं तब कहते हैं—हमारी स्वामीजीसे बात करा दीजिये। अच्छा कभी-कभी ऐसा हुआ है—आपलोगोंको आश्चर्य होगा कि मैंने पूछा कि आखिर क्या काम है? बोले स्वामीजीसे बात करना है—

मैंने कहा, मैं ही स्वामीजी हूँ। तो बोले तुम झूठ बोलते हो। तुम स्वामीजी नहीं हो। 'येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः। तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्।' कोई कहता है—देखो यह बात स्वामीजीको मालूम न होने पावे। किन्तु वह तो मुझे मालूम पड़ जाती है। वे मुझे बता देते हैं। अन्य-अन्य देवताके जो भक्त होते हैं, भक्त नहीं समझते हैं कि ये भगवान् हैं। भगवद्बुद्धि उनकी नहीं होती। और सम्भव है देवता भी न समझें कि मेरे अन्दर भगवान् हैं। वे अज्ञानी होते हैं, जिनको पूजा-पत्री ज्यादा मिलने लगती है वे थोड़े अभिमानी हो जाते हैं।

आप देखते हैं—इन्द्रको भेंट-पूजा कायदेसे मिलने लगी तो उन्होंने कहा—नहीं ईश्वर कुछ नहीं—मैं ही परमेश्वर हूँ। और जब भगवान्‌ने उनकी पूजामें बाधा डाली तो असुर हो गये—देवता नहीं रहे—असुर हो गये। अन्य देवताकी भक्तिमें दोष कहाँ आया ? एक तो भक्तके हृदयमें जो अन्य बुद्धि है या दूसरा कोई है—और देवताके हृदयमें यह बुद्धि आयी कि मैं दूसरा कुछ हूँ। भक्तमें श्रद्धा तो है, लेकिन भगवान्‌का यह स्वभाव है—देखो भाई हम तो पहचानते नहीं हैं। यह भक्तकी पूजा है। यजमानके हृदयमें भगवान् बैठते हैं। अन्तर्यामी हैं और वे कहते हैं—हे यजमान, अब मैं तुमको पसन्द कर रहा हूँ। तुम मेरे बड़े प्यारे हो। इसलिए तुम्हारे हाथसे कोई ऐसा काम कराना चाहता हूँ जिससे तुम मेरे पास आजाओ।

जिस चेतनको भगवान् पसन्द करते हैं, यह मेरे पास आवे, उसके हृदयमें शुभ प्रेरणा देते हैं। उसके मनमें अच्छे कामकी प्रेरणा देते हैं। और उधर इन्द्रके हृदयमें बैठ जाते हैं। पहले तुमने बड़ी सेवा की है तो यह जो बड़ी पूजा मिलती है वह तुम ले लो। तो

उधर यजमानके हृदयमें प्रेरणा देनेवाले वही आहुतिके दाता और वही आहुतिके भोक्ता। 'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता'—इन्द्र हृदय और 'प्रभुरेव च' यजमान हृदय। यजमानके हृदयमें प्रेरणा देनेवाला मैं। दोनों मेरी लीला है। दोष कहाँ है? 'न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते। वे मुझे पहचानते नहीं हैं। 'न तु मामभिजानन्ति'—आत्मरूपसे, ब्रह्मरूपसे—दोनोंमें मुझको नहीं देखते हैं। यह मेरा आदर्श ही उनकी च्युतिका—च्यवनका कारण है।

आप किसीकी भी पूजा करें, पीपलकी पूजा करें, गायकी पूजा करें। पतिकी पूजा करें, पत्नीकी पूजा करें, माँकी पूजा करें, बेटेकी पूजा करें, स्वामीकी पूजा करें। परन्तु आपके हृदयमें भगवद्बुद्धि बनी रहे। यदि भगवद्बुद्धि बनी हुई है तो आपकी पूजामें कोई त्रुटि नहीं और भगवान् साक्षात् उसको ग्रहण कर रहे हैं। एक बहनजी हैं बम्बईमें। वे खानेको मीठी-मीठी चीज लेकर आती हैं—मैं उनको चिढ़ा देता हूँ कि तुम मेरे लिए नहीं लायी हो मेरे पास जो तुम्हारे भाई साहब रहते हैं उनके लिए लायी हो। वे घरकी बनी हुई मीठी-मीठी चीजें खायेंगे, अगर मेरे लिए लाना होता तो तुम नमककी चीज लातीं। उसके संकल्पमें सचमुच उसके भाई ही रहते हैं, मैं नहीं रहता हूँ। परन्तु उनको क्यों खिलाती है—इसलिए कि हमारे साथ रहते हैं, हमारी सेवा करते हैं, हमसे प्रेम करते हैं।

न च मामभिजानन्ति तत्त्वेन अतस्ते भवन्ति।

•

प्रवचन : ९

अम्ब त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम् ।

भगवान्‌ने कहा कि जो भगवत्-भावको नहीं जानते हैं और अन्य भावसे मेरी उपासना करते हैं—हृदयमें श्रद्धा भी हो—वे आराधना तो मेरी ही करते हैं, परन्तु वे विधिको नहीं जानते हैं। मर्यादाके अनुसार, कायदेके अनुसार हमारी आराधना नहीं करते हैं।

कल श्लोक आपको सुनाया था—'येप्यन्यदेवता-भक्ताः' अगले श्लोकमें कहते हैं—'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।' जितनी भी आराधना होती है, उसको पानेवाला भी मैं हूँ, भोगनेवाला भी मैं हूँ और उसका प्रेरक भी मैं हूँ। परन्तु करनेवाले मुझे पहचानते नहीं, इसलिए च्युत हो जाते हैं।

आप भगवान्‌की बात समझनेके लिए पहले अपनेको समझ लें। जैसे कोई आदमी है। वह आपका कार्यकर्ता है। वह बहुत बढ़िया है। अपने सभी काम करता है। उसे दी आँखकी सेवा। वह ध्यान रखता है कि हमारी आँख अच्छी रहे, स्वस्थ रहे, प्रसन्न रहे, उसमें दोष-निवारक औषधि डालता है, उसमें गुणवर्धक औषधि डालता

है, लेकिन अन्य अङ्गोंकी उपेक्षा कर दी। आपका जो एक मालिक है, वह केवल आँखवाला ही नहीं है, उसके जीभ भी है, उसके कान भी है, उसके हाथ भी है, उसके पाँव भी है। एक इन्द्रियको यदि हम ठीक रखनेकी कोशिश करें और दूसरी इन्द्रियोंको भूल जायँ और मालिकको समझें ही नहीं और डॉक्टर हमारा एक रोग देखकर ऐसी दवा दे दे कि उसकी जो प्रतिक्रिया हो वह शरीरमें दूसरा रोग पैदा कर दे। एक रोगकी दवा करे, एक अङ्गको पुष्ट करे और दूसरेको कमजोर बनादे तो इसमें मालिकपर नजर नहीं है केवल अङ्गपर ही नजर है। क्योंकि मालिकके तो दोनों ही अङ्ग हैं। जो एक-एक देवताकी आराधना करनेवाले हैं वे सब देवताओंके जो मालिक हैं, भगवान् हैं, उनकी सेवा, उनके सुखपर ध्यान नहीं रखते हैं, वे तो अपने सही--असली मालिकके विरुद्ध ही काम कर बैठते हैं।

आपने सुना होगा—किसीके घरमें गुरुजी आये, दो भाई थे। उन्होंने उनके पाँव बाँट लिये। दाहिना तुम्हारा, बायाँ मेरा। जब रातको सेवा करने लगे तो एक पाँव दूसरे पाँवपर आगया—बोले रामराम यह तुम्हारा पाँव हमारे पाँवपर क्यों चढ़ता है? उस पाँवको एक चपत लगा दिया। दूसरेने डण्डा लाकर दूसरे पाँवपर मार दिया। यह है अनजानकी सेवा!

अनजान लोग जो सेवा करते हैं उसमें भो दुःख पहुँचा देते हैं। हमारी जीभकी तो सेवा की कि हमें खूब स्वाद आजाये। जीभकी तो सेवा होगी पर पेटका क्या होगा? हार्टका क्या होगा? डायविटीजका क्या होगा? पल्सका क्या होगा? समग्र भगवान्की दृष्टिसे हमारी सेवा होनी चाहिए। एकांगी सेवा नहीं होनी चाहिए। फल भी क्या मिलेगा? 'यान्ति देवव्रता देवान्पितृन्यान्ति पितृव्रताः। यदि पीतृ-पीतृ बोलेंगे तो कभी संस्कृतमें श्लोक बनाना हो, तो वह

अशुद्ध हो जावेगा। क्योंकि पितृमें 'पि' हमेशा लघु ही होता है गुरु नहीं होता पीतृ बोलेंगे तो 'पी' गुरु हो जावेगा। ये जितने 'पी' वाले अक्षर हैं उनका गुरु नहीं होता है। लघु रहता है।

अब यह है कि आपका संकल्प क्या है? देवता भी भगवान्के एक अङ्ग हैं। पितर भी भगवान्के एक अङ्ग हैं। ये सम्पूर्ण भूत भी भगवान्के एक अङ्ग हैं। एक-एक अङ्गकी आप पूजा करें और जो अङ्गी है उसको भूल जायें। जिसके ये सारे अङ्ग हैं, उसको भूल जायें तो एक-एक विभागका जो अध्यक्ष है, उसकी तो सेवा पूजा हुई परन्तु जो सब विभागोंकी देखभाल करनेवाला है, मालिक है, उसकी सेवा नहीं हुई। 'यान्ति मद्याजिनोपि मां'—जो भगवान्की आराधना करते हैं, उनको तो भगवान्की प्राप्ति होती है। लेकिन जो केवल देवताकी आराधना करते हैं, ये विभाग हैं। जैसे वरुण देवताकी आराधना करते हैं—वे जलके मालिक हैं। अग्नि देवताकी आराधना हुई, वे तापके मालिक हैं। आप अग्नि देवताको प्रसन्न कर लें और वरुण देवताको प्रसन्न न करें तो आपको ताप तो मिल जावेगा लेकिन पानी नहीं मिलेगा। पानीका देवता भी प्रसन्न चाहिए। प्रकाशका देवता आँखोंमें रहता है सूर्य—आप सूर्यकी आराधना करें तो आपको प्रकाश तो मिलेगा। परन्तु उसके लिए अग्नि भी चाहिए उसके लिये ताप भी चाहिए। फिर वायुकी व्यवस्था भी चाहिए। एअरकण्डीशन भी होना चाहिए। वायुदेवता भी प्रसन्न हों, सूर्य देवता भी प्रसन्न हों, अग्निदेवता भी प्रसन्न हों।

यही सब देवता हैं। शास्त्रोंमें, वेदोंमें इन्हींको देवता कहा है। इनसे हमारे व्यवहारके सब काम चलते हैं। ऊर्जा कहाँसे मिलेगी? विद्युत् शक्ति कहाँसे मिलेगी? या तो आपके पक्षमें अग्नि हो या तो आपके पक्षमें सूर्य हो। तब आप ऊर्जा प्राप्त कर

सकेंगे। जलसे भी प्राप्त कर सकेंगे। इसका अर्थ है कि समग्र दृष्टिसे ही हमको भगवान्‌की आराधना करनी चाहिए। केवल एक-एक अङ्गपर ध्यान दिया—अन्न बहुत पैदा हुआ और उद्योग मिट गये और उद्योगपर बहुत ध्यान दे दिया कृषि मिट गयी।

पहननेको कपड़ा चाहिए तो खानेको अन्न भी तो चाहिए न! और अन्न, कपड़ेपर ध्यान दिया, दवा मिलनी बन्द हो गयी। तो यह एक-एक देवताकी जो आराधना है वह ऐसी ही है। अश्विनीकुमारकी और अन्न ब्रह्मकी आराधना छूट गयी। तो समग्र दृष्टिसे सब काम करना चाहिए—सांगोपांग हो।

इसके बाद—आप देवताके संकल्पसे करते हैं, पितरके संकल्पसे करते हैं, भूतके संकल्पसे करते हैं या भगवान्‌के संकल्पसे करते हैं। व्रत माने संकल्प। आपके हृदयमें संकल्प क्या है? देवताके लिए है, पितरके लिए है, भूतके लिए है या सबके अन्तर्यामी, सबमें रहनेवाले, जो देवतामें भी हैं उनके लिए हैं? आपने पंखेपर बहुत ध्यान दिया और रोशनी देनेवाला बल्ब बुझ गया और बल्बपर बहुत ध्यान दिया और पंखा चलना बन्द हो गया।

तो आपको बिजलीपर ध्यान देना चाहिए। बिजली बनी रहे—वह अन्तर्यामी है। पंखेका अन्तर्यामी कौन है? बोले बिजली! बल्बका अन्तर्यामी कौन है? बोले बिजली। रेफ्रिजरेटरका अन्तर्यामी कौन है? बिजली। आपके घरमें बिजली रहे तो ये सब काम ठीक-ठीक चलेंगे। इसी प्रकार यदि भगवान्‌पर दृष्टि रहे तो आपके सब अंग, आपकी सब इन्द्रिय, आपका मन और आपका समग्र विश्व ठीक-ठीक काम करेगा। क्योंकि भगवान् सम्पूर्ण विश्वके मालिक हैं। सम्पूर्ण विश्वके संचालक हैं, अन्तर्यामी हैं।

अब एक प्रश्न यह उठा कि भगवान् बहुत बड़े हैं तब तो अन्तर्यामी हैं और सब यज्ञोंके भोक्ता हैं, प्रभु हैं, तो उनकी आराधना

थोड़ी कठिन होगी। छोटे-मोटे सिपाहीसे मिलना हो तो चौराहेपर ही मिल लेते हैं। किन्तु गृहमन्त्रीसे मिलना हो तो उनकी इजाजत लेनी पड़ती है। राष्ट्रपतिसे, सम्राट्से मिलना हो तो कठिन पड़ता है। हमको दस वर्ष पहले एक उद्योगपतिने बताया था कि महाराज, हमलोगोंका निश्चित है कि किसकी तनखाहपर दसगुना रिश्वत दिया जाय तो वह मान जायगा। यह तो पहलेकी बात है। अब वह हिसाब शायद न हो! इसलिए मैं बताता नहीं हूँ। अब बढ़ गया होगा। जो जितना बड़ा होता है उसके यहाँ पूजा-पत्री बड़ी चाहिए। सो भगवान्की पूजा करना भी कहीं कठिन तो नहीं है? तो बोले, नहीं—वे पूजाकी सामग्रीसे प्रसन्न नहीं होते। वे पूजा करनेवालेमें जो प्रेम है, उससे प्रसन्न होते हैं।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

एक पत्ता काफी है। तुलसीदलमात्र—तुलसीका एक पत्ता भगवान्पर चढ़ा दो, भले तुम्हारे पास जल न हो, गुड़ न हो। हमलोगोंके घरमें पहले भगवान्पर भोग लगता था, शंकरजीका भोग लगता था तो गुड़ और अक्षत। और फिर बँटता था ता क्या खुशीसे हमलोग खाते थे। 'आक-धतूर चबात फिरैं'। शंकरजोको तो आकका फूल जो जंगलमें होता है वह चढ़ता है। बेलपत्र चढ़ा देते हैं। उनको चीज, वस्तु नहीं चाहिए। 'नारायण मोहें वस्तु न चाहिए।'

वस्तु महत्त्वपूर्ण नहीं होती है, महत्त्वपूर्ण होता है प्रेम! इसीसे भगवान्ने कह दिया—'पत्रं'—पत्ता चढ़ा दें। 'तुलसीदल-मात्रेण'—एक चुल्लू पानी चढ़ा दें। शिवपुराणमें ऐसी कथा आयी है कि शिवरात्रिके दिन कोई चोर भगा और बेलके पेड़पर चढ़कर

छिप गया। नीचे शंकरजीकी मूर्ति थी। रातको उसका पाँव, हाथ कहीं लग गया और एक बिल्वपत्र टूटकर शिवजीकी मूर्तिपर गिर पड़ा। अरे, शंकरजी तो प्रसन्न हो गये। उसमें तो प्रेम भी नहीं था, अनजानमें।

ये देवता लोग कुछ भोले भी होते हैं। भगवान्‌में एक मुग्ध शक्ति होती है। मुग्ध होनेकी शक्ति। अजामिलने नाम लिया—नारायण—अपने बेटेका। भगवान्‌ने कहा दौड़ो-दौड़ो—बचाओ इसको! पार्षदोंने बिनती कि महाराज, यह आपका नाम नहीं ले रहा है। अपने बेटेका नाम ले रहा है। भगवान्‌ने कहा, चुप रहो—नारायण नाम मेरा है कि उसके बेटेका है? अनादि कालसे तो मेरा कब्जा है, नारायण नामपर—मैं पहलेसे मानता हूँ कि नारायण नाम मेरा है और उसके बेटेका नाम तो अभी कल हुआ है—दस बरससे, पाँच बरससे—उसका नाम कैसे हुआ? यह नाम तो मेरा है। ये तो भोलेभाले होते हैं। जो कुब्जाको देखकर, उसके ऊपर मोहित हो जावे, उसको बहुत अकल नहीं चाहिए। वह तो थोड़ेमें ही रीझनेवाला है। भगवान् प्रेमसे रीझते हैं।

'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।' सर्वत्र सुलभ है। 'तुलसीदलमात्रेण'—भक्तवत्सल भगवान्‌ने अपनी कीमत बना दी। क्या कीमत है? तुलसीका एक पत्ता—एक चुल्लू पानी। शिवपुराणमें तो ऐसी कथा है कि एक जंगली आदमी था—किसीने कहा तुम शंकरजीको जल चढ़ाया करो। उसके पास बरतन नहीं था। हाथमें लेकर नदीमें-से जल ले चले तो बीचमें गिर जाये। फिर उसने कहा कि हाथसे जल नहीं पहुँचता है, तो अपने मुँहमें नदीका जल ले लिया और ले जाकर शिवजीके लिङ्गपर कुल्ला कर दिया। शंकरजी बोले—ऐसा तो हमको कभी नहीं मिला। प्रसन्न हो गये उसपर। वे जूठा नहीं देखते। ये तुमलोगोंको जो पाप-

पुण्य लगते हैं वे भगवान्‌को थोड़े ही लगते हैं! उनको नरकमें जानेका डर नहीं। स्वर्गका लोभ नहीं। उनको तो पाप लगता नहीं है। पुण्यकी जरूरत नहीं है। उनको तो प्रेम चाहिए।

गरीव लोग वस्तुकी कीमत देखते हैं—इन्होंने क्या दिया? जिसको कुछ नहीं चाहिए, उसको प्रेम चाहिए प्रेम! 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।' कुछ नहीं होगा बाबा घरमें--पत्र है? नहीं है। पुष्प है? नहीं है। फल है? नहीं है। अरे बाबा पानी तो होगा। केवल पानी! अच्छा वह भी अपना नहीं है। पेड़में जो पत्ता लगता है या फूल लगता है या फल होता है वह किसी आदमीका लगाया हुआ थोड़े ही होता है? उसके तो मालिक बन बैठते हैं लोग। वह तो भगवान्‌का दिया हुआ है। बिलकुल ऑटोमेटिक। केलेमें हलुवा भरकर आदमी थोड़े ही भेजता है। हाथ लगाया नहीं--ऐसी पैकिंग--हलवा—बिलकुल बिगड़ता नहीं है। यह आममें रस तुमलोगोंने थोड़े ही भरा! हमने थोड़े ही भरा है। हमारे बाप-दादाने भी नहीं भरा। वृन्दावनमें इसकी व्याख्या गोपीके शरीरमें ही सब होते हैं--समझकर करते हैं। 'यो मे भक्त्या प्रयच्छति'—प्रेमसे हमको लाकर दे। हमारी चीज हमको दे। महाराज, यह आपकी चीज हमने बहुत दिनोंसे, गलतीसे अपनी मान रखी थी। 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द'—जो कुछ मेरा है, और जो कुछ मैं हूँ, सब तुम्हारा है। बलिने लोक दिया, परलोक दिया और अपना मैं भी दे दिया कि नाप लो यह भी तुम्हारा है।

जब सब भगवान्‌का ही है तो उनको समर्पित क्या करना? समर्पित करना माने अपनी भूल मिटाना। भगवान्‌की चीजको हमने अपनी मान रखा था, अब हमारी भूल मिट गयी—बोले महाराज, इतने दिन हम भूलमें रहे कि यह हमारा है। यह तो

तुम्हारा है। चाहे इस दुकानमें रखो, चाहे उसमें रखो। चाहे इस मुनीमके पास रखो, चाहे उस मुनीमके पास रखो। चीज तो तुम्हारी है।

उदयपुरके राजा--राजा नहीं हैं--दीवान हैं। महाराजा तो वहाँ एकलिंग स्वामी हैं। एकलिंग स्वामी वहाँके अधिपति हैं और वे तो दीवानकी तरह काम करते हैं। 'यो मे भक्त्या प्रयच्छति।' क्षमा करो महाराज, हमने आपकी चीजको इतने दिनसे अपनी माना। आपकी चीज आप लो। 'तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः'। नियमसे, निष्ठासे, अपने मनको वशमें करके, भक्तिके साथ भगवान्‌को दे दो। बोले भगवान् भूल जाते हैं कि क्या करनेका है। एकने इत्रका फाहा दिया तो वह तो देनेवालेकी तरफ देख रहा था। असलमें दी हुई वस्तुका उतना महत्त्व नहीं है। देनेवालेका बहुत महत्त्व है। जिसके हाथपर रुईका फाहा रखा था—उन्होंने पट मुँहमें डाल दिया--यह भोलेपनका लक्षण है। भगवान् बहुत भोले हैं। कानून-कायदा भी नहीं देखते हैं। यदि उनका भक्त आजाये तो सब कानून-कायदा ताकपर रख देते हैं। यदि भगवान् कानूनके अनुसार ही भक्तके साथ व्यवहार करें तो भक्ति करनेकी क्या जरूरत है? दरवाजेपर लिखा—बिना इजाजत अन्दर आना मना है। अपनी पत्नीके लिए है क्या? अपने आपसे इजाजत लेकर भीतर आये? अपने बेटेके लिए है क्या? अपने सेवकके लिए है क्या? अरे भाई, वह तो पराये लोगोंके लिए कानून होता है।

परमात्मा न्यायकारी नहीं है। अपने भक्तका पक्षपाती है। इसीसे नाम भी भक्तका पक्षपाती है। शंकरजी प्रारब्धको भी मिटा देते हैं। भगवान्‌का भोलापन क्या है? उसपर आपका ध्यान जाये—भोलापन यह है कि पत्रं, पुष्पं, फलं तोयं—कोई खानेकी

चीज तो है नहीं और भगवान् खानेवाले भी नहीं हैं। यह बात वेदमें बिलकुल स्पष्ट है—जीवात्मा भोक्ता होता है। भगवान् भोक्ता नहीं होता। उसको भूख-प्यास नहीं लगती है। वह तो नहीं खाता है लेकिन जब अपने प्रेमी भक्तको देखते हैं, तो महाराज, भूख-प्यास न हो तब भी ये लेकर खाते हैं, अपने प्रेमीके हाथसे भूख न होनेपर भी खा लेते हैं। हमलोग भी खा लेते हैं, भले भूख न हो, भले रुचि न हो—कभी-कभी तो कड़वा भी खा लेते हैं। एक हमारे हरिबाबाजी थे—एक सज्जन उन्हें निमन्त्रण देके भोजन कराने ले गये। उनकी स्त्री छू गयी तो वह रसोई नहीं बना सकी। पतिने खाना अपने हाथसे बनाया। परन्तु घी-तेलकी पहचान नहीं थी, उन्होंने एरंडीके तेलमें साग बना दिया। जब बाबाको परसा तो वे पहचान गये कि यह तो एरंडीका तेल है। बोले कितना बनाया है भाई, बहुत बढ़िया साग है—महाराज खूब है आप खूब खाइये। बोले ला सारा-का-सारा लेआ। आज तेरे लिए नहीं छोड़ेंगे। सब खा गये। उसको पता ही नहीं चला कि हमने एरंडीके तेलमें बनाया था। अब जब जुलाब हुआ, रेचन हुआ तो भगत लोगोंने पूछा—यह क्या हुआ? बोले चुप रहो—हमारा बहुत दिनसे मन था कि एकदिन जुलाब लेंगे, आज मिल गया। अपना प्रेमी—उसके हाथका महत्त्व है—उसके प्रेमका महत्त्व है। उसके कड़वाहट और मिठासका महत्त्व नहीं है।

महात्माओंको अपने शरीरका भी ज्यादा महत्त्व नहीं होता। वे सोचते हैं—इतने दिन जीकर हमने क्या किया, कि थोड़े दिन और जीयेंगे तो दुनियामें और कुछ कर लेंगे। अपने शरीरकी भी कीमत नहीं होती है। उनकी दृष्टि ही अलग है। तो जब सब महात्माओंका महात्मा है, जो भगवान् है—'तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि'—भूल गये कि हमारा तो आज निर्जल व्रत है—कोई

प्रेमी ले आया तो खाने लगे—अरे बाबा तुम तो निर्जल व्रत रखते हो—कभी कुछ खाते ही नहीं हो। बिना खाये-पिये चमकते रहते हो। बोले नहीं भाई, भक्तिका—प्रीतिका स्वभाव ही यह है कि प्रियतम अपने-आपको भी भूल जाता है।

तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥

'यत्करोषि, यदश्नासि'—आपका ध्यान खींचते हैं। 'साधू सावधान—दीजिये अवधान।' हमारे जब साधुलोग बैठते हैं तो उनमें यह बोला जाता है। साधु सावधान, दीजिये अवधान। इधर अपना ख्याल, तवज्जुह, ध्यान दीजिये। गीतामें दो-तीन जगह यह बात कही गयी है कि हम कर्म करें तो भगवदर्पण-बुद्धिसे करें तब वह कर्म हमारे अन्दर पाप-पुण्य नहीं लगावेगा। पहलेसे संकल्प कर लें कि यह कर्म भगवान् अपनी प्रेरणासे ही करवा रहे हैं। देखो कोई हमसे जबरदस्ती काम करावे, डण्डा लेकर कहे—यह काम करना पड़ेगा और हम भयभीत होकर कर लें तो स्वयं करनेपर जितना पाप होता है, उतना विवश होकर करनेपर पाप नहीं लगेगा। यह तो आप जानते ही हैं। उन्होंने स्वयं संकल्प करके क्रिया कराया।

पहले कर्मको ब्रह्ममें रख लो और आसक्ति छोड़कर करने जाओ, फिर पाप नहीं लगेगा—'मयि संन्यस्य कर्माणि'। अध्यात्म-बुद्धिसे सारे कर्म भगवान्‌को अर्पित कर दो और फिर करते जाओ, तो तुम्हें पाप-पुण्य नहीं लगेगा। सब जगह वही है। 'ये तु सर्वाणि कर्माणि'— वहाँ सब जगह यह बात है कि पहले संकल्प करो

अपने मनमें कि यह कर्म भगवान्‌की प्रेरणासे, भगवान्‌के लिए, भगवान्‌में रहकर मैं कर रहा हूँ। यहाँ बिलकुल अद्भुत दूसरी बात है—यहाँ ऐसा है कि करनेके लिए पहले आपको भगवान्‌की याद बिलकुल न रही हो, लौकिक स्वार्थसे करने लग गये।

अपने स्वार्थके लिए, अपने भोगके लिए काम कर रहे हैं। पहलेसे संकल्प नहीं है। करते समय याद नहीं है। न भगवान्‌की प्रेरणाका अनुभव किया, न करते समय भगवान्‌का स्मरण और कर्म-निर्वाह हो रहा है। कर्म पूरा भी हो गया और पूरा करनेके बाद 'श्रीकृष्णार्पणमस्तु' एक बार हृदयसे निकला। पहले तो याद नहीं थी भाई! करते समय भी याद नहीं थी पर अब आगया तो बोले--'श्रीकृष्णार्पणम् अस्तु।' हे भगवान्! न मैं कर्ता हूँ और न यह मेरा है। करनेके बाद भी!

भगवान्‌को अपने जूठेका भोग लगता है। संस्कृत भाषामें एक ग्रन्थ है प्रेमपत्तनम्। इसके कर्त्ता एक महान् विद्वान् हुए हैं उनकी रचना है। भगवान् कहते हैं मैं ही उच्छिष्ट हूँ। भक्तोंने मुझे चाट-चाटकर जूठा कर दिया। 'उच्छिष्टं ब्रह्म'—सब पैदा होते हैं, सब मरते हैं और भगवान् बचे रहते हैं इसलिए उसका नाम उच्छिष्ट है। बोले उच्छिष्ट मैं हो हूँ—पहले महात्मा लोग भगवान्‌को जूठा भोग नहीं लगाते थे। जब व्रजमें भगवान् आये तो उन्होंने कहा कि ये बात रही जायेगी 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते'—जो मुझे जैसे भजे, मैं उसी प्रकार उसका भजन करता हूँ। भक्त लोग बोलेंगे कि, यह कैसी रही—हम तुम्हारा जूठा खायँ और तुम हमारा जूठा न खाओ। बोले ला भैया—मेरे प्यारे भाई ला!

मैं जब संन्यासी नहीं हुआ था। एक महात्माके साथ भोजन करने बैठा। वे भगवान्‌को अर्पण करके, तुलसी डालके, पानी

घुमाकर खाते थे। भोजन करने लगे, इसी बीचमें दही लेकर आदमी आया कि दही परोसना तो मैं भूल गया, उसने थालीमें डाल दिया। उन्होंने फिरसे हाथमें पानी लिया और बोले 'भगवदर्पणमस्तु'--मैंने कहा, यह क्या करते हो ? जूठा भोग लगाते हो ? बोले हमारा भगवान्‌का कुछ ऐसा ही रिश्ता है, हमारा जूठा वे खाते हैं, उनका जूठा मैं खाता हूँ।

रिश्ता तो जोड़ा--वह रिश्ता जोड़ो--पति-पत्नी है, माँ-बेटा है, भगवान्‌के साथ सम्बन्ध तो होने दा ? सम्बन्ध जुड़ जाय तब देखो क्या मजा आता है !

एक गोस्वामीजीके घरमें भोजन करने गया। भगवान्‌को भोग लगाया, थाली मेरे सामने रख दी। मैंने कहा, तुम स्वयं प्रसाद नहीं लेते हो। बोले मैं तो ग्वारियेका जूठा नहीं खाता। मेरी जात बिगड़ जायेगी। मैंने कहा तुम ब्राह्मण और यह ग्वारिया ! इसका जूठा मैं खाऊँगा ! मैंने कहा यह क्या बात है ? किसी महात्मासे पूछा तो हमें बताया—देखो, वह मूर्तिको मूर्ति नहीं समझता है। साक्षात् ग्वारिया, अहीरका बेटा कृष्ण समझता है; उसका कितना जागृत भाव है। मूर्तिको मूर्ति नहीं समझता। साक्षात् कृष्ण समझता है, यह तो देखो।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

'यत्करोषि'--जो कुछ करते हो, धन कमानेका काम करते हो, बहुत बढ़िया है। संसारके और लौकिक कर्म भी करते हो, बहुत बढ़िया है। भागवतमें एक जगह लिखा है कि एक आदमीको कुत्तेने खदेड़ा। वह आदमी डर गया। उसको भगवान्‌की तो याद

आयी नहीं, एक मन्दिर था सामने और भयभीत होकर भागा। मन्दिरमें गया और भगवान्‌का चरण पकड़ लिया कुत्तेके डरसे। भगवान्‌ने कहा यह तो मेरे शरणागत हो गया। भयके निमित्तसे वह भगवान्‌की ओर गया और उसको शरणागत मान लिया भगवान्‌ने।

आपको सुनावें भक्त लोग क्या मानते हैं--जब वह लघुशंका करते हैं, जब वह शौच जाते हैं तो वह कहते हैं यह हम भगवान्‌के लिए कर रहे हैं। पहले हम लघुशंकासे निश्चिन्त हो जायें, मल-त्यागसे निश्चिन्त हो जायें, स्नानसे निश्चिन्त हो जायें तब भगवान्‌की सेवा करेंगे, अरे सच्चे भक्तका हर कार्य भगवान्‌की सेवाके लिए होता है। लघुशंका लगी तो—सेवा क्या करोगे? शौच लगा हो सेवा क्या करोगे? भक्त सोता क्यों है? सोकर उठेंगे—चित्त शान्त रहेगा और प्रसन्न रहेंगे तब प्रेमसे भगवान्‌की सेवा करेंगे। भक्तका सोना भी भगवान्‌के लिए, मूत्र, पुरीष भी भगवान्‌के लिए। उसका चलना, बैठना, खाना, सब भगवान् अपने लिए ग्रहण करते हैं। जो भूल करता है तो भूलको भी लेते हैं। जब उसके शरीरमें गन्दगी रहती है—भगवान् कहते हैं—हमारी लापरवाही है—क्यों गन्दगी आयी हमारे भक्तके शरीरमें? अपने हाथसे उसको धोते हैं, पोंछते हैं। 'कोटि विप्रवध लागहि जाहू। आये सरन तजहिं नहिं ताहू।' ऐसा भगवान्‌का स्वभाव है।

'यत्करोषि'—जो करते हो। यह मत देखो क्या करते हो! जो तुम्हारा भोजन है वही भगवान्‌को अर्पित करो। नहीं तो भोजन करनेके बाद भी अर्पित कर दो कि यह मैंने खाया, उस समय भूल गया था।

जो करते हो, जो खाते हो, जो हवन करते हो, जो भी हवन

करते हो, जो तपस्या करते हो, वह करनेके बाद सही। भगवद्-अर्पण कर दो, यहमेरा नहीं। 'शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।' यह जो कर्मोंका बन्धन है, यही सुख या दुःखरूप फल देनेवाला है। कर्मोंके बन्धनसे छूट जाओगे तब कहोगे कर्म मेरा नहीं।

कहते हैं ड्यूटी करते समय आदमीसे जो गलती होती है उसकी जिम्मेवार सरकार है। ड्यूटी करते समय अगर कोई मर जाय तो सरकार मानती है कि ड्यूटी करते हुए मरा है, यह तो हमारा है। उसके परिवारका पालन-पोषण करते हैं। पेन्शन मिलती है। जो अपना कर्म, अपना भोग, अपना दान, अपना होम, अपनी तपस्या करनेके बाद भी भगवान्‌को अर्पित कर दे, उसको भी शुभाशुभ फलसे मुक्त कर देते हैं और संन्यासीको जो फल मिलता है, वही फल, जैसे संन्यासी कर्मबन्धनसे छूटता है, वैसे वह भी कर्मबन्धनसे छूटता है गृहस्थकर्म करनेवाला! परन्तु संन्यासी त्याग करके छूटता है और गृहस्थ भगवान्‌को अर्पण करके छूट जाता है।

जो समर्पण है वही संन्यास है, जो संन्यास है वही समर्पण है। 'संन्यासयोगयुक्तात्मा'—बल्कि संन्यास भगवान्‌के लिए हुआ कि नहीं हुआ इसमें शंका रहती है। पर यह तो संन्यासयोग है। समर्पणयोग है। क्योंकि इसमें भगवान्‌का स्मरण है, भगवान्‌का स्फुरण है। इसमें भगवान्‌का उद्देश्य है। यह भगवान्‌की ओर मुँह करके किया जाता है, इसलिए योग हो जाता है। 'संन्यासयोग-युक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि'—सारे कर्मबन्धनसे मुक्त हो करके। मुक्ति माने संसारको तलाक देना। इसका नाम है संन्यास, विनिर्मुक्त।

फिर बोले भाई एकसे तो मुक्ति हुई—कुछ मिले तब ना! 'मामुपैष्यसि।' मैं मिलूँगा। संसारसे होगा तलाक और मिलेगा

भगवान् । कर्म करते हुए हो जायगा । यही गीताकी विशेषता है । 'सर्वकर्माणि' सारे कर्म करो—'कुर्वन्नपि न लिप्यते । गीताकी विशेषता है । कर्मको छुड़ाकर भगवान्को गीता नहीं मिलाती है । कर्म करते हुएको गीता भगवान्को मिलाती है । क्या पक्षपात करते हो ? भगवान् पक्षपाती—'आर्यसमाजी तो भगवान्को पक्षपाती नहीं मानते—आर्यसमाजी तो भगवान्को न्यायकारी मानते हैं—तब भगवान्के पास जानेकी जरूरत ही क्या है ? यमराजके दरवाजेपर चले जाओ । आपको न्याय मिल जायगा । इतना पाप, इतना पुण्य, इतना नरक, इतना स्वर्ग—न्याय करनेके लिए तो यमराज हैं। भगवान् तो पतित-से-पतितको, नीच-से-नीचको उठाकर अपने हृदयसे लगानेवाले हैं । भगवान्के पास क्षमा है । भगवान्के पास दया है । भगवान् कानून बदल देते हैं । तो यह पक्षपात क्यों ?

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

'समोऽहं सर्वभूतेषु'—आपके कामकी बात सुनाता हूँ । भगवान् कहते हैं—मैं सबमें हूँ, सबको देखता हूँ, न मेरा किसीसे द्वेष है, न राग है । श्रीकृष्णने तो महाभारत युद्धके अन्तमें जब परीक्षितका जन्म हुआ तो वे मृत थे—अश्वत्थामाके अस्त्रसे दग्ध थे । हाय-हाय मच गयी कि कौरव-पाण्डव वंशका अन्त हुआ । श्रीकृष्णको मालूम हुआ तो अपने-आप वहाँ आये । उन्होंने हाथ उठाकर सबके बीचमें कहा—यदि कौरव-पाण्डव युद्धमें किसीके प्रति मेरे मनमें विषमता आयी न हो, मेरे मनमें समता बनी रही हो, राग-द्वेष न रहा हो तो मेरे इस समत्वके बलपर यह मरा हुआ बालक जीवित हो जाय । तुरन्त परीक्षित जीवित हो गये ।

भागवतमें तो कथा है कि गर्भमें प्रवेश करके रक्षा की। महाभारतमें कथा है कि अपने समत्वके बलपर श्रीकृष्णने रक्षा की। 'समोऽहं सर्वभूतेषु'—भगवान् सबमें सम है। न उनको किसीसे द्वेष है और न किसीसे राग है। यह भगवान्‌का स्वरूप है।

उड़ियाबाबाजीके पास दो भगत आये दोनोंमें लड़ाई हो गयी थी। एक कहता था—महाराज बड़े निष्ठुर हैं, एक कहता था, बड़े दयालु हैं। बोले महाराज आप ही निर्णय करो। आप दयालु हो कि निष्ठुर हो। वे बोले देखो, मेरा स्वरूप निष्ठुर है, और मेरा स्वभाव दयालु है। स्वभावमें दया है और स्वरूपमें असंगता है। तो भगवान् भी अपने स्वरूपमें सम हैं, राग-द्वेष नहीं है, सबके अन्दर हैं, एक सरीखे हैं, सबको जीवन देते हैं, सबको ज्ञान देते हैं, सबको सुख देते हैं। सबमें रहते हैं। परन्तु विशेष कहाँ होता है? 'ये भजन्ति तु मां भक्त्या'—जरा प्रेम जोड़ो उनके साथ।

जैसे कल्पवृक्षमें दरवाजा बन्द किसीके लिए नहीं है। सबके लिए खुला है। पर उसके नीचे जाकरके, उससे कहो हमको हीरा चाहिए, मोती चाहिए, हमको वैकुण्ठ चाहिए, हमको ज्ञान चाहिए—नीचे जाकर, उसका आश्रय लेकर माँगो तो कल्पवृक्ष जो माँगोगे सो देगा। वहाँ जाना किसीके लिए मना नहीं है। वहाँ आर्य भी जा सकता है, अनार्य भी जा सकता है। कल्पतरु जैसा स्वभाव है, जो उनके आश्रित हुआ, उसका परम कल्याण, परम मंगल है।

अब 'मयि ते तेषु चाप्यहम्'--पर ध्यान दो। भगवान् कहते हैं 'मयि ते'--उनका आधार मैं हूँ। मयि माने मुझमें। भक्त कहाँ

रहते हैं ? भक्तके सर्वस्व भगवान् हैं। भगवान्से पूछो कि महाराज आप कहाँ रहते हो ? तो बोले 'तेषु चाप्यहम्' मेरे आधार भक्त हैं और मेरे सर्वस्व भक्त हैं। भक्तने कहा—मेरे आधार, प्राणाधार तुम, मैं तुममें रहता हूँ—और मेरे रहनेके लिए दुनियामें कोई जगह नहीं है। मैंने कोई घर नहीं बनाया। मैं तो तुम्हारे घरमें रहता हूँ। तुम्हारा होकर रहता हूँ। यहाँ क्या हुआ ? परस्पर आधार-आधेय भाव हो गया। भक्त है आधेय और भगवान् है आधार और भगवान् है आधेय और भक्त है आधार। भक्तके हृदयमें भगवान् रहते हैं और भगवान्के हृदयमें भक्त रहता है। यह बात भागवतमें बहुत साफ है। मेरे हृदयका नाम है साधु, सन्त, भक्त। साधुके हृदयका नाम है भगवान् और भगवान्के हृदयका नाम है साधु। भक्तका हृदय क्या है ? पोस्टमार्टम करके देखलो, उसमें भगवान्के सिवाय और कुछ नहीं है और भगवानन्के हृदयमें क्या है ? देखो, निरीक्षण करो—भक्तके सिवाय और कुछ नहीं है।

अनेक स्थलोंपर भगवान्ने स्वयं कहा है—भक्त लोग मेरे सिवाय और किसीको नहीं जानते हैं और मैं भक्तके सिवाय और किसीको नहीं जानता हूँ। 'हम भक्तनके भगत हमारे, सुन अरजुन परतिज्ञा मेरा।' एक बार बोल दो। भगवान् बोलते हैं—'अहं भक्त-पराधीनो।' दुर्वासाजी, मैं भक्तके पराधीन हूँ। मैं तो भक्तोंका गुलाम हूँ। मेरे अन्दर स्वतन्त्रता तो है ही नहीं और भक्त मेरे सिवाय दूसरी किसी वस्तुको जानता ही नहीं है। इसलिए भगवान्ने कह दिया—यदि मेरे भक्त न हों तो मैं स्वयंको भी रखना पसन्द नहीं करता हूँ। कभी-कभी साधु लोग भी कह देते हैं। यदि हम न होते तो तुम्हारी क्या गति होती ? बोलो, कौन पूछता तुमको ? 'सन्त रामके पूत हैं राम सन्तके पूत'—सन्त न होते जगतमें तो

ईश्वरका क्या होता कि उसके पूत जहाँ हैं वही रहते। सन्तोंने ही भगवान्‌को निराकारसे साकार बनाया। बैकुण्ठसे धरतीपर ले आये। जिनका किसीसे सम्बन्ध नहीं है, उनको सम्बन्धी बनाया। यह तो सन्तोंकी महिमा है। 'मयि ते तेषु चाप्यहम्।' बोले बाबा दुराचार देखते हो कि नहीं, जाति देखते हो कि नहीं? अब अगले जो श्लोक आते हैं, उनमें यह बात है। हम आचरण भी नहीं देखते और जाति भी नहीं देखते। 'अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। आचार नहीं देखते। 'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा' आचरण नहीं देखते, देर नहीं लगाते और जाति नहीं देखते।

प्रवचन : १०

भगवान्‌ने कहा कि जो जिसकी आराधना करता है, वह उसीको प्राप्त करता है और इसी न्यायसे अपना भी वर्णन कर दिया, जैसे देवाराधन करनेवाला देवताको प्राप्त होता है, वैसे ही मेरी आराधना करनेवाला मुझे प्राप्त होता है। न्यायत: संगत है परन्तु दोनोंमें बड़ा अन्तर है। देवता लोग तो पूजाकी सामग्री देखते हैं कि हमारी पूजा-पत्रीमें यह क्या लगा रहा है। जैसे देवतासे हम पाँच लाख चाहते हैं और पाँच रुपयेका लड्डूका भोग लगा देते हैं। तो वह हिसाब-किताब देखता है। देवताओंको गणित, व्यापार मालूम है। उनको वेद-मन्त्रका उच्चारण चाहिए। उनको विधि-विधान चाहिए और वे पूजा तो पहले ले लेते हैं और उसका फल कभो, अपनी मौजसे देते हैं। न्याय यही है कि जो भगवान्‌की आराधना करे वह भगवान्‌को प्राप्त हो।

क्या यही बात भगवान्‌के बारेमें भी सोची जाय? उन्होंने देवताओंसे अपनी विलक्षणता बतायी। देवता अमर हैं—अमीर लोग उनकी उपासना करते हैं। अमर हैं, अमीर हैं, उमराव हैं। अमेरिका—अमीरोंका निवास स्थान है। भगवान् गरीबोंके लिए हैं। अमीरोंके ही भगवान् नहीं हैं, भगवान् गरीबोंके भी हैं। जिनके पास कोई सामग्री न हो वे क्या करें? देखो गरीबोंकी सेवा

स्वीकार करनेके लिए—'पत्रं पुष्पं फलं तोयं।' 'यान्ति मद्या-जिनोऽपि माम्' में थोड़ी आपत्ति आयी थी, जो आक्षेप आया था, उसका समाधान करनेके लिए। इसको आक्षेपिकी संगति बोलते हैं। तुम भी देवताओं जैसे हो, ना-ना, मैं देवताओं जैसा नहीं हूँ। 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।' वस्तुकी कीमत नहीं है। कीमत है भक्तिकी। कितना प्रेम—'पत्रं' एक तुलसीका पत्ता, 'पुष्पं' एक जंगलमें-से तोड़कर लाओ फूल। यदि कोई मालिक है, तो उसकी अनुमति लेकर ही फल, फूल, पत्ता चुनना चाहिए या कीमत देकर लेना चाहिए, स्वयं पैदा करना चाहिए। पर यदि कोई वनमें फूल, फल लगा हुआ हो तो वहाँसे ले लेना चाहिए। क्योंकि वह तो भगवान्‌का है। तो पत्र हो, फूल हो, फल हो और नहीं तो पानी तो बहता ही रहता है। अपने पीनेके लिए मिलता है, तो भगवान्‌को पिलानेके लिए क्या पानी नहीं मिलेगा? अब यह है कि भगवान् सबके साथ अश्नामि शब्दका प्रयोग करते हैं। अश्नामि माने खाता हूँ। थोड़ा हो तो आप उसको नाश्ता बोलते हैं। 'नाशितं—अशितं पूर्णं न भवति!' यह पूरा भोजन नहीं है। अधूरा भोजन है। परन्तु भगवान् कहते हैं कि मैं भोजन करता हूँ। यह प्रेमसे दे रहा है। क्या है? सुनते हैं विदुरकी पत्नीने केला, नहीं, केलेका छिलका खिलाया था भगवान्‌को। पत्रं पुष्पं भी नहीं था वह तो त्याज्य अंश था।

महाभारतमें ऐसी कथा नहीं है पर भक्तमालमें यह कथा है। फूल, फल, पानी, 'तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि।' हमको बचपनमें साधुओंमें बहुत श्रद्धा थी। पन्द्रह-सोलह वर्षके थे तो कई बड़े मस्त महात्माओंके पास गया। उन्होंने इलायची उठाकर दे दी तो बिना छीले ही खा जाता था। एक दिन किसी महात्माने पिस्ता दे दिया तो ऐसे ही मुँहमें डाल दिया—तब उन्होंने डाँटा—बोले,

नहीं यह छिलका कहीं गलेमें, कलेजेमें जाकर नुकसान पहुँचावेगा, ऐसे नहीं खाना चाहिए।

प्रेममें, श्रद्धामें, वस्तुका विचार नहीं होता। भगवान् भी प्रेम-मुग्ध अवस्थामें ही रहते हैं। 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।' तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः। वस्तु नहीं देखता है कि वह कितनी कीमतकी है, कितनी बढ़िया है, कहाँसे लायी गयी है, कितने श्रमसे उत्पन्न हुई है, देखता यह है कि यह पूजा करनेवाला प्रेमसे कर रहा है कि नहीं! और 'प्रयतात्मनः' का अर्थ है उसमें कोई स्वार्थ नहीं है। उसका मन उसके हाथोंमें है। तो यह बात हुई कि भगवान्की पूजामें वस्तुका महत्त्व नहीं है, प्रेमका महत्त्व है। अब यह देवताकी पूजा नहीं रही, पितरकी पूजा नहीं रही—यह भगवान्की पूजा है, विलक्षण हो गयी।

अब यज्ञमें यह बात है। 'यान्ति मद्याजिनोपि मां।' प्रश्न यह उठा कि क्रियाविशेषको धर्म कहते हैं। जब शास्त्रोक्त कर्म, शास्त्रोक्त रीतिसे शास्त्रोक्त अधिकारी, शास्त्रोक्त समयपर करता है तब यज्ञ सम्पन्न होता है। यह गीताकी विशेषता है। इसमें तो ब्राह्मणादि अधिकारःकी अपेक्षा है कि ब्राह्मण करे, वेदमन्त्र पढ़े यह भी जरूरी नहीं है। 'मूर्खो वदति विष्णाय धीरो वदति विष्णवे। विद्वान् वदति विष्णवे।' पण्डित बोलता है तब 'विष्णवे नमः' बोलता है और मूर्ख बोलता है तो 'विष्णाय नमः' बोलता है। अशुद्ध हो गया। ना-ना—प्रेममें कहीं अशुद्धि होती है! दोनोंका समान फल मिलता है।

भगवान्को व्याकरणका उतना ज्ञान नहीं है, जितना हमारे पण्डित लोगोंने व्याकरण जोड़ा है। भगवान्का तो स्वाभाविक व्याकरण है। भागवतमें लिखा है 'वयांसि तद्व्याकरणं विचित्रं।'

भगवान्‌का व्याकरण क्या है ? चिड़िया। जो चिड़िया तरह-तरहकी बोली बोलती है और उनकी जो भिन्न-भिन्न प्रकारकी आकृति-प्रकृति होती है, यही भगवान्‌का नाम-रूप व्याकरण है। चिड़ियोंकी बोलीका नाम व्याकरण है और उनकी जो आकृति है वह रूप—व्याकरण है। व्याकरण माने विशिष्ट आकृतिका सम्पादन। 'व्याकरणं।' उसमें मन्त्रकी जरूरत नहीं है। अधिकारीकी आवश्यकता नहीं है। क्रियाविशेष कि ऐसी वेदी बनाओ और ऐसा स्थान हो और वसन्तमें अग्न्याधान करो। यह सब कुछ नहीं। सारी क्रिया ही भगवान्‌के प्रति अर्पित होनेसे धर्म हो जाती है। 'यत्करोषि'—यज्ञमें क्रियाविशेष है और भगवद्-समर्पणमें क्रियाविशेषका समर्पण नहीं है।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥

'यत्करोषि'—भगवान् सब कर्मकी बात करते हैं। भगवान् श्रीकृष्णने (भगवान् तो आदरवाचक शब्द है) श्रीमान् कृष्णने—श्रीमती भगवद्गीता (जैसे स्त्रीके नामके साथ श्रीमती जोड़ते हैं और पुरुषके नामके साथ श्रीमान् जोड़ते हैं। वैसे भगवान् भी विशेषण शब्द है, कहीं-कहीं संज्ञाके अर्थमें प्रयोग होता है) ने क्या किया, मन्दिरमें-से तो भगवान्‌को निकाला और 'सर्वभूतेषु मद्भावम्' कर दिया।

भगवान् कहाँ हैं ? सबमें हैं। सड़कपर हैं, घरमें हैं, स्त्रीमें हैं, पुरुषमें हैं। परमेश्वरको तो निकालकर सबमें रख दिया और धर्मको यज्ञशालामें-से निकालकर—'यत्करोषि यदश्नासि लौकिक-

मपि'--जो कुछ लौकिक कर्म करते हो, परिवारके लिए करते हो, धनार्जनके लिए करते हो--'यत्करोषि।' और पहलेसे ख्याल नहीं है-यह भगवान्‌के लिए है। करनेके बाद ही बोल दिया 'श्रीकृष्णार्पणमस्तु। ब्रह्मण्याधाय कर्माणि'का अर्थ है कि पहले परमात्माका ध्यान रखकर तब कर्म करो। इससे भगवान् प्रसन्न होंगे कि नहीं। और 'यत्करोषि'का अर्थ है—जब कर्म हो जाय तभी, पहले करो तो बहुत बढ़िया। परन्तु कर्म हो जावे तो! 'यत्करोषि।' शुभाशुभ भगवान्‌को अर्पित करें—अशुभ कैसे करेंगे? 'शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः'से कर्मका क्या रूप हो, यह बन्धन भी नहीं लगाया। 'यत् किञ्चित्सामान्यं करोषि।' जो कुछ सामान्य कर्म करते हो, सो सब।

यदश्नासि—जो समयपर मिल गया और भोजन कर रहे हैं। भगवान्‌ने दिया—याद आजाय। भगवान् ही भीतर बैठकर भोजन कर रहे हैं यह स्मरण हो जाय। 'अहं वैश्वानरो भूत्वा।' भगवान् शहद भी तो खाते हैं। पञ्चामृतमें शहद पड़ती है। आपको मालूम है, शहद कैसी चीज है? न मालूम हो तो अच्छा है। उसका भी भगवान्‌को भोग लगता है। 'यदश्नासि यज्जुहोषि'—आप हवन करते हैं? ब्रह्म हवि है। जो दान करते हो—दान अपनी सन्तुष्टिके लिए होता है। देनेवालेको सन्तोष होना चाहिए। जिसको दिया जाता है, उसका सन्तोष यदि देखोगे तो एक-एक व्यक्तिकी इतनी माँग होगी कि आप सर्वस्व दे करके भी उसको सन्तुष्ट नहीं कर सकोगे। इसलिए दान है तो बाह्य—बाहरी धर्म, परन्तु आत्मतुष्टिके लिए होता है। उससे अपनेको सन्तोष होना चाहिए, हाँ हमने ठीक किया। अधिकारी कौन है? उसका मालिक है वही अधिकारी है। धन न तुम्हारा है, न जिसको दे रहे हो उसका है। वह तो जिसका है, उसीका है।

'यत्तपस्यसि कौन्तेय'—जो आत्मसंयम करते हैं, अपनी इन्द्रियोंको संयममें रखते हैं। आत्मसंयमरूपी तपस्या। 'तत् कुरुष्व मदर्पणम्' वह भगवान्‌के प्रति अर्पित हैं। हमने एक महात्मासे पूछा था। उन दिनों मैं १८-१९ वर्षका था। गंगा किनारे बड़े मस्त महात्मा रहते थे। उन्होंने एक दिन उस समय पूछ लिया कि क्या चाहते हो? मैंने कहा हमको भगवान्‌के प्रति समर्पित कर दो, शरणागत कर दो। हम भगवान्‌के प्रति शरणागत हो जायँ, समर्पित हो जायँ यही चाहते हैं। वे बोले तुम भी सोचकर आओ कि ऐसी कौस-सी वस्तु है जो भगवान्‌को समर्पित नहीं है? धरती भगवान्‌की है। पानी भगवान्‌का ही है। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश सब परमात्माका स्वरूप है। क्या है ऐसा जो भगवान्‌का नहीं है। कल आकर बताना समर्पण करवा दूँगा। २४ घण्टे तक मैं सोचता रहा—जब मन ही भगवान्‌का है तो शरीरकी माटी किसकी? जब पानी भगवान्‌का तो शरीरका पानी किसका? जब आग भगवान्‌की है तो शरीरकी गरमी—टेम्परेचर कहाँसे आता है? मैं गया उनके पास-- महाराज नहीं मिले। देखो असमर्पितका भ्रम है। यह अपनी बुद्धिका दोष है कि हम किसी वस्तुको भगवान्‌की नहीं समझते हैं।

यह बिलकुल पक्की बात है कि सिवाय भगवान्‌की वस्तुके और दूसरे किसीकी कोई वस्तु नहीं है। मैं आपको क्या अर्पित करूँ? 'शुभाशुभफलैरेवं'—बोले छोटी चीज अर्पित करेंगे तो पहले प्रश्न था कि शायद न खायँ तो भगवान्‌ने प्रतिज्ञा कर ली कि खाते हैं। अच्छा छोटी वस्तु दें, छोटा कर्म दें, थोड़ा भोजन दें तो इसका फल भी छोटा होता होगा? बोले भगवान्‌के पास तराजू तो है ही नहीं।

रामानुजसम्प्रदायमें बरबर मुनि हुए हैं—उन्होंने ललकार

दिया है—तुमको पुण्यका साक्षात्कार हुआ है ? तुमको पापका साक्षात्कार हुआ है ? क्या तुम जो पाप-पुण्य मानते हो उसको भगवान् भी पाप-पुण्य मानते हैं ? अरे तुम अपनी आँख भगवान्के साथ मत जोड़ो—विचार करके देखो ये भगवान्को सृष्टि कैसी दिखती है ? अपना स्वरूप दिखाती है—तो तुम भगवान्की शरणमें हो कि नहीं ? तुम क्या दिखते हो ? अपना स्वरूप दिखते हो। भगवान् तो हमको अपना मैं मानते हैं। हम ही भगवान्को अपनेसे अलग मानते हैं। जो भगवान्की दृष्टि है वही हमारी दृष्टि है।

जो थारी राय सो म्हारी राय—ऐसे बोलो भगवान्से। तब तो तुम्हें कभी दुःख नहीं होगा और जब तुम कहोगे कि तुम्हारी राय अलग, हमारी राय अलग, बस जहाँ भगवान्से मतभेद हुआ, जीवनमें दुःख आया। जीवनमें दुःखका एक ही कारण है, भगवान्से मतभेद। भगवान् किसको पापी मानते हैं ? किसको पुण्यात्मा, मालूम है ? हम अपने ही एक हाथको पापी मानें, एक हाथको पुण्यात्मा मानें—यह कैसे हो सकता है ?

'शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।' यह कर्मका बन्धन है सृष्टि और इसीमें तुम्हारी मान्यता है, इस कर्मका फल यह है, इस कर्मका फल यह है। भगवान् अमेरिकन कानूनको मानते हैं कि यूरोपियन ? किस संविधानके अनुसार वे पाप-पुण्यका निर्णय करते हैं ? उनके पास जो संविधानकी पुस्तक है वह किस राष्ट्रकी है ? किस जातिकी है ? किस आचार्यकी है। यह आचार्य तो सब बादमें पैदा हुए—तो भगवान्के पास वह पोथी नहीं रही होगी जो इन लोगोंने बनायी है। उस समय मनुकी पोथी कहाँ थी ? जैमिनिकी पोथी, कुरानशरीफ, बाईबिल कहाँ थी—ये तो बादमें बने। इनके पहले जो भगवान्का कानून है, उसका

साक्षात्कार किसने किया ? बतायें तो सही ! भगवान्‌का कानून विचित्र है। सबको अपने मैंके रूपमें अनुभव करते हैं। सृष्टि क्या है ? यह तो उसकी कविता है।

भगवान् अपना ही भिन्न-भिन्न नाम बनाते हैं : विलक्षण, विलक्षण नाम रखते हैं और मौजमें अकेले गाते हैं, जो गाते जाते हैं सो बनता जाता है। 'संन्यासयोगयुक्तामा'—देखो सर्व कर्मार्पण हो गया इसमें, सर्व कर्म त्याग हो गया—'विमुक्तो मामुपैष्यसि।' मुक्त हो गये और भगवत्प्राप्ति हो गयी। भगवान्‌की प्राप्ति मरनेके बाद होती है, यह कुकल्पना है। भगवान्‌की प्राप्ति इसी समय हो रही है। खुली आँखसे देखलो। अब एक बात आयी कि नहींजी, हम तो पापी हैं। अच्छा तुम पापी मानते हो तो मानो, तुम्हारी इच्छा, तुम्हारे मुँहमें घी-शक्कर। हम तुम्हारी बात मान लेते हैं।

कल सुनाया था। 'ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्'। मयि ते—उनका आधार मैं हूँ और तेषु चाप्यहम् और मेरा आधार वे हैं। माने मेरे दिलमें वे हैं, उनके दिलमें मैं हूँ। मनकी उपाधि ही हमको भगवान्‌से अलग करती है। यह डिग्री लग गयी। एक आदमीको पहले रायबहादुरकी पदवी मिली। फिर राजाबहादुरकी पदवी मिली। पहले पद्मश्री मिली तो फिर पद्मभूषण मिल गया। अरे बाबा, डिग्री दो हुई, आदमी दो थोड़े ही होगा। आदमी तो एक ही है। यही आदिम है। भगवान्‌ने अपने सरीखा बना दिया—आदिम है यह आदमी नहीं है—मान्यता ही तो है। बोले—ये भजन्ति तु मां भक्त्या ! मुझमें भक्त और भक्तमें मैं।

भक्तके बिना भगवान् कहाँ ? यदि ईशितव्य नहीं होगा तो ईश्वर कहाँ होगा ? अच्छा, हम पापी हैं। पापी हो तो पहले

छाँटो सबसे बड़ा पापी कौन है ? भगवान्‌ने कह दिया 'अपि चेदसि पापेभ्यः' सब पापियोंको इकट्ठा करो और उनमें-से कहो कि यह छोटा पापी, यह बड़ा पापी—यह सबसे बड़ा पापी ! 'पापकृत्तमः पापकृत् पापकृत्तर पापकृत्तमः'—बोले, हमारी नाव तुम्हारे लिए किनारे लगी है। आओ बैठ जाओ। संकोच होता है महाराज, हम पापी हैं—नावपर कैसे चढ़ेंगे। छोड़ दो संकोच। नहीं, हमसे नहीं आया जाता—'तेषामहं समुद्धर्ता' मैं आकर तुमको उठाता हूँ और दोनों हाथसे पकड़कर हृदयसे लगाता हूँ। ओ मेरे प्यारे 'सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि'। साराका सारा पाप तुरन्त भस्म हो जायेगा। पापका समुद्र बहता रह जायेगा नीचे और तुम तर जाओगे। ऊपर आजाओगे।

जिसके पास वस्तु नहीं है, उसके लिए भी भगवान् हैं। जिसके पास विधि-विधान नहीं हैं, उसके पास भी भगवान् हैं और जिसके पास पुण्य कर्म नहीं है, पापकी पूँजी है—भगवान् महापतितपावन हैं—जो पापीको अपना नहीं सकता, जो नीचे गिरे हुएको उठा नहीं सकता, जो पिछड़े हुएको आगे बढ़ा नहीं सकता, जो भूले हुएको रास्ता बता नहीं सकता, वह धर्म नहीं होता, उसका नाम धर्म नहीं है। उसका नाम भगवान् नहीं है। यदि पतितको पावन न करदे तो भगवान् कैसा ? 'अपि चेत्सुदुराचारः' भगवान् कहीं आचार देखते हैं ?

आपने सुना होगा—पूतना राक्षसी, कंसप्रेरिता रुधिराशना बालघातिनी और हिंसासे हृदय भरा हुआ और जहर लगा हुआ। भगवान्‌के पास गयी तो उन्हें कुछ दिखा ही नहीं। यह राक्षसी है कि बालघातिनी है कि हिंसिका है, कुछ नहीं। क्या दिखा ? बच्चेको क्या दिखता है—आप जानते हैं ? माँका दूध दिखता है।

केवल दूध दिखा, जहर वगैरह कुछ दिखा ही नहीं। कुब्जा दिखी, रूप आदि कुछ नहीं दिखा। यहाँतक कि उद्देश्य भी नहीं दिखा कि यह किसके लिए है। वह तो कंसके लिए था, जो कुछ उसके पास था और वह कंसकी सेविका थी। अरे यह तो बड़ी स्वामिनिष्ठा है। कंसकी सेवा बहुत कर चुकी। तुम्हारी जैसी सेविका तो हमारे घरमें चाहिए।

अनजानमें अमृत पो लिया—अमर हो जायेगा कि नहीं? अनजानमें श्रीकृष्णसे प्रेम हो गया। आचार नहीं है, ज्ञान नहीं है, जाति नहीं है। परन्तु भगवान्से प्रेम है। मेरे तो गिरिधर गोपाल, दूसरो न कोई। 'साधुरेव स मन्तव्यः'। आपसे कहते हैं कि आप भी उसके आचारको मत देखिये, आप भी उसके निश्चयको देखिये। भक्ति संकल्प-प्रधान नहीं है। भक्ति क्रिया-प्रधान नहीं है—भक्ति उद्देश्य प्रधान है। किसके लिए कर रहा है? 'कस्मै देवाय' यहाँ कस्मैका अर्थ है किसके लिए—उसका निश्चय, सर्वोत्तम निश्चय है। भगवान् व्यवसायत्मिका बुद्धिकी पसन्द करते हैं। अव्यवसाय नहीं, उसने निश्चय कर लिया है। 'भजन्त' भजन माने प्रेमपूर्वक। अपने चित्तका सर्वतोमुखी प्रवाह भगवान्में लगा है। आगे भगवान्, पीछे भगवान्, दाहिने भगवान्, बाये भगवान्। ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्। पापी भी आपका भजन करनेका निश्चय करे तो कुछ देर तो लगेगी? क्षिप्रं—चुटकी बजाते ही, तत्काल पापी हो गया, धर्मात्मा। धर्मात्मा होना कोई कम तकलीफदेह नहीं है। मच्छर मर जाय, चींटी पाँवके नीचे आजाय—आगके सामने बैठकर होम करना पड़े तो धर्मानुष्ठान करते-करते भी हाथ तो जलते ही हैं। बोले नहीं, ऐसा नहीं, बादमें शान्ति मिलेगी—बादमें धर्मात्मा होगा—ऐसा नहीं, तुरन्त हो जायगा धर्मात्मा। यहाँ मरनेके बाद धर्मका

फल नहीं। शश्वच्छान्ति निगच्छति। उसी समय उसको शाश्वत शान्ति मिलेगी।

बोले—अर्जुन, सुन एक बात! मेरा दोस्त है। जैसे आजकल यार-यार करके बात करते हैं न! मित्र हो तो गाली देकर भी बात करते हैं—सुन अर्जुन, जरा कान इधर दे—तू प्रतिज्ञा करले, 'त्वं प्रतिजानीहि' तुम प्रतिज्ञा करो—मैं क्या प्रतिज्ञा करूँ? बोल, 'न मे भक्त प्रणश्यति'—श्रीकृष्णके भक्तका कभी नाश नहीं होता। यह प्रतिज्ञा कर। मैं प्रतिज्ञा नहीं करूँगा, तू कर। अरे बाबा करले न यार! काहेको हिचकता है। बोले तुम्हीं क्यों नहीं कर लेते? मेरे सिरपर बोझ क्यों डालते हो? देख बात यह है कि मैं तो प्रतिज्ञा कर चुका हूँ कि महाभारत-युद्धमें कोई शस्त्र नहीं ग्रहण करूँगा। सो अभी तो युद्धका प्रारम्भ है, दो-तीन दिन बाद मुझको शस्त्र उठाना पड़ेगा, हमारी प्रतिज्ञा टूट जायगी तो दुनियामें विख्यात हो जायगा कि भगवान् अपनी प्रतिज्ञाके पक्के नहीं हैं। प्रतिज्ञा करते हैं, तोड़ देते हैं। यदि रामचन्द्र हों तो बात दूसरी है।

कृष्णने कहा कि हमारे बारेमें थोड़ी बदनामी है और आगे और होनेवाली है। महाभारतमें भगवान्‌ने अपनी प्रतिज्ञा तोड़ दी—क्यों? भीष्मकी प्रतिज्ञाकी रक्षा करनेके लिए। भीष्मकी प्रतिज्ञा थी—'आजु हौं हरि सों शस्त्र गहइहौं'—महाराज आप अपनी प्रतिज्ञा तोड़ देंगे? हाँ, लेकर चक्र दौड़े—रथका पहिया। जैसे सिंह झपटता है हाथीपर वैसे झपटे। धरती काँपने लगी। वाणीदेवी काँपने लगीं कि अपनी वाणीसे श्रीकृष्णने प्रतिज्ञा की कि मैं शस्त्र ग्रहण नहीं करूँगा और वे हमारा तिरस्कार करके दौड़े, थरथर काँपने लगीं, अब हमारी मर्यादा क्या रहेगी? पीताम्बर

गिर पड़ा। श्रीकृष्णने एक परदेसे अपनेको ढँक रखा था। पीताम्बर उनके ऊपर परदा है। बोले बड़े सम हैं—बड़े सम हैं। कौरव-पाण्डव दोनों सम हैं—यह किसका पक्षपात नहीं करते हैं। वे पीले-पीले पीताम्बरसे ढँके हुए थे अपनेको। पीताम्बरने कहा कि अब जाओ, बेपरद हो गये तुम!

'गतोत्तरीय'—यह अन्धी आँखोंसे भी देखनेकी चीज है। इसके लिए बाहरकी आँखकी जरूरत नहीं है। यह आत्मा प्रज्ञानेत्र है। उपनिषद्‌में कहा—प्रज्ञाकी आँख है। बोले देख भाई—मेरी प्रतिज्ञा जब झूठी होगी तो मैं अब प्रतिज्ञा करूँगा उसको लोग झूठी मान लेंगे। इसलिए तू कर ले प्रतिज्ञा—'न मे भक्तः प्रणश्यति।' और 'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति'—बुद्धि भगवान् हैं। 'बुद्धिं तु सारथिं विद्धि'—यह सारथिके रूपमें कौन बैठा है? बुद्धि है। किसी मजहबमें बुद्धिका इतना आदर नहीं है। 'बुद्धियोगात्, बुद्धियोगात्, बुद्धियोगात्'। न मे भक्तः प्रणश्यति'—मेरे भक्तका प्रणाश कभी नहीं होगा। 'तस्याहं न प्रणश्यामि—स च मे न प्रणश्यति।' वह मेरी आँखसे ओझल नहीं होगा और मैं उसकी आँखसे ओझल नहीं होऊँगा।

'प्रणश्यति'का अर्थ है—आँखसे ओझल होना। जब कोई चीज नहीं दिखती है तो मरती तो नहीं है पर हम समझते हैं, मर गयी। एक घड़ा फूट गया, हमने कहा—घड़ा फूट गया, मर गया, पर मर नहीं गया, माटीका एक कण भी नष्ट नहीं हुआ। माटीका जितना वजन था उतना ही वजन बना रहा—माटी-माटीमें मिल गयी ज्यों-की-त्यों। घड़ा मरा कहाँ? कोई नहीं मरता। मेरा भक्त हो जाओ तब इसका पता चलेगा। भगवान् भक्तको देखते हैं। भक्त भगवान्‌को देखता है। दोनों दोनोंको देखते हैं। 'विष्णोस्तत् परमं पदम्।'

अब जातिकी बात करते हैं—माने जो कर्मसे नीच है, जो वस्तुसे रहित है, जो कर्मकाण्डसे रहित है, जो पापी है, फिर बोले नहीं, नहीं, अब आओ सबके लिए दरवाजा खुला है। भगवान्का द्वार कभी किसीके लिए बन्द नहीं होता। 'मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।' पापयोनि माने जो कुत्ता है। कुत्ता भी भक्त होता है। भगवान्का आश्रय लेता है।

हमने भक्त कुत्ता देखा है। ग्वालियरके पास एक सन्त रहते थे—उनके यहाँ एक कुत्ता था। उसको एकादशीका ज्ञान था। एकादशीके दिन जब जबरदस्ती रोटी दी—वह नहीं खाता था। हमने फलाहारी कुत्ता भी देखा है। वे मोसम्बी, अनार खाते हैं। कीर्तनमें नाचते देखा है। तालसे अपना पाँव हिलाता था। साँप भी कथा सुननेके लिए आते हैं। प्रवचन सुननेको साँप भी आते हैं। ये जो जन्तु-विज्ञानके विद्वान् हैं, वे कहते हैं, इनके अन्दर समझ सब होती है, वे केवल हमारी वाणी नहीं बोल सकते हैं। केवल भाषाका ही अन्तर है।

कुत्ता भी समझता है कि मेरी तारीफ हो रही है कि मेरी निन्दा हो रही है। गीध भी भगवान्का भक्त है—'शूकरयोनिं वा।' सुनते हैं, तोता, कौवा भी भगवान्के भक्त होते हैं। गाय, हरिण, पेड़पर रहनेवाली चिड़िया भी भगवान्की भक्त हैं। असलमें सब जानमें, अनजानमें 'मम वर्तमानुवर्तन्ते।' भगवान्की सेवा सबके द्वारा हो रही है। 'स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्राः'—जो भगवान्-विमुख स्त्री हैं, जैसे पूतना है, कुब्जा है। वैश्य, जो अपने व्यापारके अनुसार लोगोंके काममें आनेवाली चीज—चाहे अच्छी हो चाहे बुरी—व्यापार करते हैं। 'पापयोनयः' और साथ-साथ 'तेऽपि' है। 'अपि'-शूद्राः—जो छोटे-छोटे काम करते हैं। राजाकी आज्ञासे

जल्लाद फाँसी देता है, उसमें उसको पाप लगेगा ? निष्ठाके साथ आज्ञाका पालन करता है, संविधानका पालन करता है। वहाँ पापका प्रश्न क्या है ? 'तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।' यदि उनके हृदयमें भगवान्‌की भक्ति है तो उनको परागतिकी प्राप्ति होती है। 'किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या'—जिनका हृदय पवित्र है, ब्रह्मर्षि, राजर्षि हैं, जिनके हृदयमें भक्ति है, उनका क्या पूछना ?

एक ब्राह्मण है। बारह पुण्योंसे युक्त है—स्वाध्याय, तपस्या, एकान्तसेवन, सब हैं उसके अन्दर—परन्तु भगवान्‌से विमुख है। बोले भाई, उस ब्राह्मणसे तो वह चाण्डाल बढ़िया है जो भगवान्‌के प्रति समर्पित है। यह भागवतमें श्लोक है। प्रह्लाद-स्तुतिका है। जिसकी जीभपर भगवान्‌का नाम है—भगवान्‌का नाम लेकर पुकारे और ताप, यमदूत, नरक, स्वर्ग, पुनर्जन्म उसके पास आयें ? यह कैसे हो सकता है ? उसको कोटि-कोटि यज्ञका फल मिलता है। यह भगवान्‌की सुगमता है। 'तेऽपि यान्ति परां गतिम्।' उनके लिए भी द्वार खुला है, वे भी आयें। आओ भाई, यहाँ किसीके लिए रोक-टोक नहीं है, यह तुम्हारा अपना घर है, कोई पराया घर होता तो यहाँ कोई कानून लगता, कोई रोक-टोक लगती, यह तो तुम्हारा अपना घर है। आओ-आओ हमारे पास आओ।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥

अपने मनको देखो। मैं हूँ तुम्हारा मन। 'अहमेव मनो यस्य।' मैं ही जिसका मन हूँ—समान अधिकरण, जब आँख बन्द की, जरा गरदन झुकायी, कौन दिखता है ? हमारा मन दिखता है, ठीक है तुम्हारा मन मैं हूँ कि नहीं ? मैं ही तो तुम्हारे अन्दर मन बनकर बैठा हुआ हूँ। तन्मे मनः।

मद्भक्तो भव--मुझसे प्यार करो। अपना मनन, विचार मुझको दे दो, यह हुआ मन्मना भव। और भक्ति माने प्रीति प्यार। अपने विचार हमको दे दो और अपना प्यार हमको दो। मद्याजी—अपना कर्म हमको दो। बोले बाबा--कुछ दिया लिया नहीं जाता, अच्छा हाथ तो जोड़ो, नमस्कुरु। हमारा सिर भी नहीं झुकता, कई लोग ऐसे होते हैं। बिलकुल ठूंठ होते हैं, झुकनेका तो नाम ही नहीं आता। सिर नहीं झुकता है, हाथ नहीं झुकता है। हमको तो डॉक्टरने बताया कि यदि आप साष्टांग दण्डवत् रोज किसीको करते होते तो बरसों पहले आपके हाथकी दवा हो जाती। भगवान्‌ने कहा—अच्छा, सिर तो झुका लिया करो, बोले यह भी नहीं बनता है बाबा! कौन साष्टांग दण्डवत् करे। कौन सिर लगावे धरतीमें। हाथ, पाँव, छाती, घुटना लगावे धरतीमें—यह सब उपद्रव हमसे नहीं बनता है।

एकबार श्रीकृष्णके सामने झुकना दस अश्वमेध यज्ञके बराबर होता है। दस अश्वमेध यज्ञ करो फिर जन्म होगा लेकिन एकबार श्रीकृष्णके सामने नम्र हो जाओ, झुक जाओ, अपना दिल नम्र हो जाये, हृदयमें कोमलता आजाय—बस, छूट गया संसार! यह तो कठोर हृदयके लिए संसार है, कोमल हृदयके लिए संसार थोड़े ही होता है। कोमल हृदयको तो भगवान् पसन्द करते हैं—इसका कोमल हृदय है, कहीं संसारमें फँस जायेगा। आओ-आओ हमारे साथ जुड़ जाओ। जिसका हृदय कोमल होता है, वह संसारमें कहीं भी खिच जाता है, किसी भक्तके रंगमें रँग जाय, किसीके साथ चिपक जाय तो भगवान्‌ने कहा—यह तुम्हारा नमन जो है यह नमक हमको पसन्द है।

नमन कहो नमक कहो कुछ फरक नहीं होता। यह तो गला

देता है—नमक जिस चीजमें डाल दो गला देता है। तो हमको गला हुआ हृदय पसन्द है।

मेरा कुछ नहीं, सब तुम्हारा है, शरणागति। पहले ज्ञान है, फिर भक्ति है, फिर यज्ञ है, उसके बाद शरणागति है। बोले यह भी नहीं होता, बोले मत्परायण—मेरा भरोसा रखो, मुझपर विश्वास रखो, सब ठीक कर देंगे। 'एवं आत्मानं युक्त्वा।' इस तरह तुम अपने-आपको जोड़ दो, मेरे पास आओ।

एक बातपर आपका ध्यान खींचें। यह श्लोक १८वें अध्यायमें भी है और नवें अध्यायमें भी है। थोड़ा अन्तर है। वहाँ है 'मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोसि मे।' विश्वनाथ चक्रवर्तीने कहा कि जब भगवान्ने कहा 'मामेवैष्यसि'—बोले हमको तो तुम पहले ही बता चुके हो कि तुम वादेके झूठे हो, झूठी प्रतिज्ञा करते हो। हम नहीं मानते। बोले 'सत्यं'—मैं सत्य-सत्य कहता हूँ, सौगन्ध खाकर कहता हूँ। सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ। तुमसे कहता हूँ भाई, यह भी तो देख! नहीं, बाबा बचपनसे ही झूठ बोलते रहे। मैयासे कह दिया माटी नहीं खायी—गोपियोंसे कह दिया कभी झूठ नहीं बोला—भीष्मसे प्रतिज्ञा की सो तोड़ दी। तो मुझसे भी झूठ बोल सकते हो। कुछ विश्वास नहीं है, तुम्हारा। बोले, नहीं 'प्रियोसि'—अर्जुन तुम मेरे प्यारे हो 'भक्तोसि मे'—ब्रजवासी लोग बात-बातमें तेरी सौं मेरी सौं कहते ही रहते हैं। ब्रजवासियोंकी सौगन्धका कुछ ठीक नहीं है। प्रेममें भी है न! 'सौंह करे भौंहनि हंसे'....। सौंहकी तो कीमत ही नहीं है। बोले नहीं-नहीं तुम तो मेरे प्यारे हो—'प्रियोसि!' अपने प्यारेसे कहीं कोई झूठी प्रतिज्ञा की जाती है। कोई पराया हो तो बात दूसरी है, तुम तो हमारे बड़े प्यारे हो। 'इष्टोसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्।' तुम मेरे इष्ट हो, माने मैं तुम्हें चाहता हूँ—

भक्तोसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।

तुम मेरे भक्त हो, सखा हो, पर वहाँमें और यहाँमें फरक क्या है ? वहाँ सारी जिम्मेवारी अपने ऊपर लेते हैं। तुम अपनेको इस तरहसे मेरे साथ जोड़ो। यह अभी आधी गीता है। पूरी गीता 'प्रियोसि मे' पर है।

× × ×

यह बड़ा अच्छा होता है कि हमें धन्यवाद पहले मिल जाता है और पूरा करनेका अवसर बादमें आता है। हम आपलोगोंके आभारी हैं कि आप अपने घरका इतना बड़ा काम-धन्धा छोड़कर बढ़िया-बढ़िया फर्नीचर और एयरकण्डीशन घर छोड़कर आते हैं, कुर्सीपर बैठते हैं, इतना श्रम करते हैं, इतनी शान्तिसे, इतने प्रेमसे सुनते हैं। और सचमुच यदि श्रोता अच्छा न हो तो वक्ता तो कुछ बोल ही नहीं सकता। श्रोताका जो उत्तम श्रवणका संकल्प है, वह वक्ताके हृदयको प्रभावित करके उसको बोलनेकी शक्ति देता है। आभारी तो हम आपके हैं—कृतज्ञ हैं। बार-बार ऐसा मौका मिले, तो हम बहुत खुश हों। ऐसे नीचे बैठनेवाले मिलें, हँस-हँसकर हमारी बात सुनें और महाराज, माला भी पहनावें, हाथ भी जोड़ें, महाराजजी भी कहें, ऐसे श्रोता तो हमको बार-बार चाहिए—धन्यवाद हम थोड़े ही देते हैं।

२५८.२५२८
ए ९८गी

❀ सत्साहित्य पढ़िये ❀

पूज्यपाद अनन्तश्री स्वामी
अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज
द्वारा विरचित
एवं
संस्था द्वारा प्रकाशित
अनुपम आध्यात्मिक साहित्य

१. माण्डूक्य-प्रवचन (आगम प्रकरण)	१०.००
२. ईशावास्य-प्रवचन	४.००
३. ब्रह्मसूत्र-प्रवचन-१	१०.००
४. ब्रह्मसूत्र-प्रवचन-२	१०.००
५. ब्रह्मसूत्र-प्रवचन-३	१०.००
६. सांख्ययोग (दूसरा अध्याय)	९.७५
७. ज्ञान-विज्ञान-योग (सातवाँ अध्याय)	९.००
८. नारद भक्ति-दर्शन	९.००
९. भक्ति सर्वस्व	१०.००
१०. श्रीमद्भागवत-रहस्य	३.७५
११. वेणगीत	३.००
१२. महाराजश्रीका एक परिचय	१.००
13. Glimpses of Life Divine	1.50

बृहद् सूची-पत्र निम्नलिखित पतेपर माँगें—

— सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्ट —
'विपुल' २८/१६ बी० जी० खेर मार्ग, मालाबार हिल
बम्बई–४००००६
फोन : ८१७९७६